

छलाँग



अरुणा सीतेश

"डाल पर बैठे एक गिरगिट ने देखा कि उस पेड़ की सबसे ऊँची फुनगी पर बैठी एक चिड़िया गा रही है। गिरगिट का मन हुआ कि वह भी वहीं जा पहुँचे लेकिन घनी डालियों के बीच से होकर दूर ऊपर तक चढ़ने की बात उसे पसंद नहीं आई। उसमें तो बड़ी देर लगती और बेकार की मेहनत भी। चिड़िया तो फुर्र से वहाँ पहुँच जाती है। यह सोचकर उसने भी छलाँग लगा दी और दूसरे ही क्षण वह बहुत नीचे एक अँधे कुएँ में काँटों के ढेर पर जा गिरा।
मेरे पास दीवारों के अतिरिक्त कोई भी तो नहीं है जिससे मैं पूछूँ, मेरी यह छलाँग मुझे कहाँ लिए जा रही है...कहाँ ले जाएगी।"

(इसी संग्रह से)

नारी मनोविज्ञान को अपनी रचनाओं का केन्द्रबिन्दु बना कर लगभग ढाई दशक से निरन्तर सक्रिय सुप्रसिद्ध कहानी लेखिका डॉ॰ अरुणा सीतेश का नवीनतम कहानी संग्रह **छलाँग** जो उनकी कथा-वस्तु को विस्तार ही नहीं, उनके कथाशिल्प को भी एक नया आयाम दे रहा है।

छलाँग

अरुणा सीतेश



आर्य बुक डिपो
करोल बाग़, नई दिल्ली-110005

प्रकाशक :
सुखपाल गुप्त
आर्य बुक डिपो
30 नाईवाला, करोल बाग़,
नई दिल्ली-110005
दूरभाष : 5721221

मूल्य : 45.00

प्रथम संस्करण : 1997

लेज़र कम्पोज़िंग :
बंसल लेज़र प्रिंटर्स

मुद्रक :
विशाल प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-32

रीना, ऋचा
प्राची, प्रतीची
और ज्योति को
अशेष आशीष के साथ

कथा-सूत्र

जीवन में कहानी कहाँ से आ जुड़ी, पता नहीं...

अपना बचपन याद करने बैठती हूँ तो कुछ भी ऐसा हाथ नहीं आता जिसे विशिष्ट कहा जा सके–असाधारण, विलक्षण। छोटे भाई-बहनों से लड़ाई भी होती थी, मान-मनौबल भी। बड़ों से डाँट-फटकार भी मिलती थी और प्यार भी मिलता था। गुड़ियों का खेल भी खेला, उनका ब्याह भी रचाया। कोर्स की किताबों के बीच में छिपा कर कहानी-उपन्यास भी पढ़े। सहेलियों से मिल कर मन उल्लसित हुआ, बिछुड़ कर उदास। जब-जब सफलता मिली पैरों को जबरन धरती पर टिकाए रखना पड़ा। असफलता के क्षणों में आँसुओं को जबरन भीतर ढकेलना पड़ा। मतलब एक निहायत सामान्य बचपन। असामान्य शायद कुछ था तो हर देखी-सुनी बात का मन में घर कर लेना और फिर बरसों-बरस नित-नए संदर्भों में सामने आ खड़े होना। असामान्य शायद कुछ था तो घंटो-घंटो स्वयं से बातें करना, महीनों-बरसों पहले घटी घटना को पुनः तरतीबवार लगाना और फिर बारी-बारी हर पात्र की तरफ से उसे उधेड़ना-बुनना। अवचेतन में छिपी पड़ी अनेक स्मृतियों का यों अचानक बिना किसी पूर्व सूचना के सामने आ बैठना चमत्कृत भी करता था, आक्रांत भी–बरसों पहले घटी घटनाएं चलचित्र सी दृष्टि के सामने से गुजर जाती–अरे, यह सब आज तक याद है मुझे! पर यों बीते दिनों को याद करके सच को देखने-समझने के नितांत नए संदर्भ, नए आयाम, नए कोण भी मेरे हाथ लग जाते तो फिर बहुत दिन तक मथते रहते।

चिंतन-मन्थन की इस सक्रिय घुसपैठ ने ही शायद लेखनी हाथ में थमा दी। मन परिवेश से कटकर, आँखें मूँद कर चलने की इजाजत न दे तो हर राह पर प्रश्न ही प्रश्न आगे-पीछे दौड़ते दिखाई देते हैं। इन प्रश्नों के समाधान ही नहीं, स्वयं प्रश्नों को भी पूरी तरह समझने-परखने

का प्रयास मैंने अपनी कहानियों में किया है। हर समस्या का समाधान होता भी कहाँ है?

मेरा मानना है कि कहानी में कहानीपन और अनुभूति की सहजता के साथ-साथ संवेदना की वह सघनता भी होनी चाहिए जो पाठक के साथ कुछ दूर तक, कुछ देर तक तो चले ही। इस संग्रह की कहानियाँ कहाँ तक आपके साथ रहीं यह तो आप ही बतायेंगे।

अरुणा सीतेश

आवास परिसर
इन्द्रप्रस्थ कॉलेज
दिल्ली-110054

क्रम

: 1 :
दो आखर

बातों ही बातों में बाहर जाने का कार्यक्रम बन गया–पहले पिक्चर, फिर कहीं खाना।

"इस समय साढ़े पाँच बजा चाहते हैं। कृपया अपनी-अपनी घड़ी मिला लीजिए...हमारा काफ़िला पौने छः बजे पिक्चर के लिए रवाना होगा..." घड़ी देखते हुए जीजाजी ने अपने विशिष्ट नाटकीय अंदाज़ में कहा।

"तुम लोग जाओ...न हो रवि-शशि को ले जाओ...हम कहाँ लदे फिरेंगे...?" मम्मी ने थैली में से ऊन का नया गोला निकालते हुए कहा।

"ठीक है...फिर हम भी नहीं जाएंगे...बच्चो, रुकावट के लिए खेद है..." जीजाजी ने तुरंत ही फ़ैसला सुना दिया।

"बच्चों का इतना मन है तो चली ही जाओ...स्वेटर तो कल भी पूरा हो सकता है..." पापा को पैरवी करनी ही पड़ी।

"चली ही जाओ का सवाल नहीं है पापा...आप भी तैयार हो जाइए... सब चल रहे हैं..." जीजाजी ने 'सब' पर ज़ोर देते हुए कहा।

"पुन्नो, ऐसा कर बहन, तू रहने दे। बाहर सर्दी बहुत है। तुझे ठंड लग गई तो..." मुझे उठने का उपक्रम करते देखकर दीदी बोलीं।

"आ जाने देती बेचारी को...ठंड लगने का डर एक उसी को है, औरों को नहीं...?" जीजाजी ने पूछा।

"वह औरों जैसी ही है क्या? और फिर उसे तैयार होने में कम से कम आधा घंटा लगेगा...जानते-बूझते भी आप ऐसी बात करते हैं...बाद में आप ही कहेंगे कि देर हो गई..." दीदी मम्मी को बुलाने अंदर चली गईं।

औरों जैसी...हाथ-पाँव सामान्य न होने से सब कुछ बदल जाता है क्या? मेरा मन औरों जैसा नहीं है क्या? दिमाग़ औरों जैसा नहीं है क्या? मुझमें भी इच्छा-अनिच्छा नहीं है क्या? ठीक वैसी ही जैसी और सबमें होती है? जैसी दीदी में है?

नहीं, नहीं...मैं दीदी जैसी कहाँ हूँ? दीदी जैसी होती तो...

बचपन की यादों के नाम पर बहुत कुछ है मेरे पास...राक्षस के तहख़ाने में बंद परियों की कहानी सुनाने वाले रामू काका, नहला-धुलाकर तैयार करने वाली नंदो माई, बहला-फुसलाकर गिनती और पहाड़े रटाने वाली छाया मैडम, चावल के लड्डू और रोटियों के टिक्कड़ दाल के पानी के साथ गले के नीचे उतारने के लिए लाल-लाल आँखों से घुड़कते कालू महाराज, कपड़े गंदे करने पर कान उमेठती और रोने पर गला दबाने की धमकी देती चंपा ताई, ज़हर जैसी कड़वी दवाइयाँ मुँह दबाकर भीतर उँडेलती सिस्टर, कानों में फँसा अपना आला जगह-जगह लगाकर गुदगुदाते और गाल थपथपाकर 'वेरी गुड' कहते डॉक्टर अंकल, हिसाब के सवालों के ग़लत जवाब देने पर 'डैम फूल' कहने वाले सर (जिन्हें पीठ पीछे गंजू पटेल कहकर हम सब अपना बदला लेते), पानीपत की तीसरी लड़ाई के कारण न बता पाने पर चीख़-चीख़कर डाँटती आशा मैडम औरं...और अपनी कसमें दे-देकर चुप कराती लता, जानवरों की बोलियाँ बोलकर हँसाती माला, माई के कसे बालों को खोलकर दो खजूरी चोटियाँ बनाती अलका...पर इस सबमें मम्मी कहाँ थीं...दीदी कहाँ थीं... रवि भैया कहाँ थे...शशि कहाँ था...?

नहीं, पापा तो शायद कुछ थे...वह शाम मुझे आज भी ज्यों-की-त्यों याद है। आर्ट सर ने फूल पत्तियों में रंग भरना तभी-तभी सिखाया था। सफ़ेद कागज़ पर एक के बाद एक आकार नए-नए रंग लेकर उभरते और हम मुग्धभाव से देखते रह जाते। उस शाम उन्हीं का होमवर्क करने बैठी थी पर ब्रश था कि बार-बार हाथ से फिसल जाता। किसी तरह ब्रश सँभाला तो रंगों का डिब्बा फ्रॉक पर उलट गया। उसको उठाने की कोशिश चल रही थी कि चंपा बाई कमरे में आ गई। जगह-जगह लाल-पीले धब्बे पड़े देखे तो हो गई आग-बबूला-"ये निशान क्या तुम्हारी अम्माँ उतारेंगी? देखकर काम नहीं किया जाता?" गाल पर पड़े तड़ातड़

चाँटों को आँसुओं की गर्माहट पूरी तरह सहला भी नहीं पाई थी कि उसने फिर घुड़का–"अब ये नखरे ख़त्म करो और जल्दी चलो...हमारी जान को और भी हज्जार काम हैं..." आँसुओं को घुटकती मैं चुपचाप कुर्सी से उतरने लगी पर घबराहट में लड़खड़ाते पैरों को ज़मीन ही नहीं मिल रही थी। देर होती देख चंपा बाई ने लपककर मुझे अपनी कमर पर डाला, अपनी धोती के पल्ले से मेरा मुँह रगड़ा और हाँफ़ती हुई पहुँच गई बड़ी मैडम के ऑफ़िस में।

सामने सोफ़े पर वो बैठे थे। लंबे से, गोरे से, कुछ गंभीर मुद्रा में। मुझे देखकर मुस्कुराए–"आओ।" उन्हें मैंने पहले भी देखा था। लेकिन कब...कितना पहले, ठीक से याद नहीं आ रहा था। चंपा बाई मुझे वहाँ छोड़कर चली गई–"लो बाबूजी, सँभालो।" असमंजस की स्थिति में मैं रोना-धोना भूल गई–"कौन हैं ये? बाई मुझे इनके पास क्यों छोड़ गई?" अपने पास रखे बैग से उन्होंने ढेर सारी टॉफ़ियाँ निकाली थीं–"लो।" मैं चुपचाप उन्हें देखती रही। "ले लो," उन्होंने फिर कहा और मेरा सिर सहलाने लगे। "आप...?" मैंने पूछा था। "हमें नहीं पहचाना? हम पापा हैं...तुम्हारे पापा...तुम हमारी बेटी हो...क्या नाम है हमारी रानी बेटी का, बताओ तो..."

"पुन्नो..."

"पुन्नो..." उन्होंने दोहराया था–"कितना प्यारा नाम है। हमारी बिटिया भी तो कितनी प्यारी है...लो, टॉफ़ी पसंद है न!"

मैंने सिर हिलाया था।

"और क्या पसंद है?"

मैं चुपचाप उन्हें देखती रही थी।

"बताओ बेटा, और क्या पसंद है? अगली बार हम अपनी रानी बिटिया के लिए वही सब लाएँगे...बोलो, क्या चाहिए तुम्हें..."

मुझे ठीक से याद नहीं मैंने किन शब्दों में कहा था, कैसे कहा था, मगर साथ चलने की बात की थी, घर चलने की बात की थी, माँ के पास जाने की बात की थी, सुधा की माँ जैसी माँ के पास...

वे चुपचाप बैठे मेरी पीठ सहलाते रहे, बड़ी देर तक। फिर बड़ी देर तक बोलते रहे कि मेरी ही भलाई के लिए उन्होंने मुझे यहाँ रखा है।

घर में अकेली मम्मी ठीक से देखभाल नहीं कर सकेंगी। मम्मी को घर में बीसियों काम होते हैं। मेरी बीमारी ठीक होते ही वे मुझे अपने साथ ले जाएंगे। "पक्का वादा रहा पुनिऽऽ" वे ठिठके थे।

"पुन्नो..." मैंने फिर दोहराया।

"हाँ तो पुन्नो रानी...जैसे ही तुम ठीक हो जाओगी हम तुम्हें अपने साथ घर ले जाएंगे, ठीक है?"

बेटी का नाम भी बेटी से ही पूछना पड़े—ऐसे संबंध में क्या ठीक और क्या बेठीक? आश्रम में दाखिल करते समय मुन्नी-चुन्नी-कुन्नी जो भी नाम उनकी ज़बान पर आया होगा वही रजिस्टर में भर दिया होगा, नाम भरने की रस्म के नाम पर। वरना मुझ जैसे मुड़े-तुड़े हाथ-पैर वालों को क्या तो कोई नाम दे और क्या नाम देकर फ़ायदा हो? नाम तो है दीदी का—सुगंधा। कितना प्यार नाम है। नाम तो है रवि-शशि का। मुझे भी जन्मते ही औरों की तरह कोई अच्छा-सा, प्यारा-सा नाम मिल भी जाता तो उससे मेरा अभिशाप मिट जाता क्या?

पता नहीं नंदो माई ने क्या सोचकर मेरा नाम पुन्नो रख दिया था? शायद मैं शरदपूर्णिमा के दिन आश्रम में आई थी, इसीलिए...चार साल बाद स्कूल के रजिस्टर में पुन्नो से पूनम बन गई। मम्मी-पापा जानते थे कि किसी नाम में मेरा भग्न जीवन जोड़ने की ताब नहीं है, फिर बेकार एक नाम बर्बाद करने से फ़ायदा?

"पुन्नो बेटा...दिन के दाल-चावल रखे हैं, गर्म करके खा लेना। हमें लौटने में देर हो जाएगी...तुम सो जाना..." मम्मी के बाहर के दरवाज़े पर ताला लगाते ही सब शांत हो गया।

अब घर में मैं हूँ और सन्नाटा है। सन्नाटा जो भूत-सा मेरे साथ चिपटा रहता है—कभी मेरे भीतर तो कभी मेरे बाहर। इसी सन्नाटे से मुक्ति पाने के लिए तो उस बार अपनी जान लेने की भी कोशिश की थी पर ऐन वक्त पर लता ने भाँप लिया—"मेरे सिर पर हाथ रखकर कसम खा कि ऐसा पागलपन फिर कभी नहीं करेगी...कभी सोचेगी भी नहीं ऐसी बात..."

"मैं जीना नहीं चाहती...मैं जीकर क्या करूँगी...मेरा कोई नहीं है इस दुनिया में...

"मैं नहीं हूँ तेरी...? माला नहीं है तेरी...? तुझे हमारे लिए जीना है... हम सबको एक-दूसरे के लिए जीना है...समझी?"

क्या सचमुच कोई किसी के लिए जी सकता है? क्या आश्रम में रहती लता आज भी मेरे लिए जी रही होगी?

पिछली बार पापा आश्रम में आए तो बड़ी मैडम से पता नहीं क्या-क्या बातें करते रहे। फिर मुझसे बोले-"तैयार रहना, शाम को चलेंगे। तुम घर चलना चाहती थीं न।"

दिनभर मेरे पास काफ़ी चहल-पहल रही। ख़बर अपने आप ही चारों तरफ उड़ गई थी। कितने ही लोग मिलने आए। चलते समय बड़ी मैडम ने कहा था-"आश्रम में घर की सी बात तो लाख चाहने पर भी हम नहीं दे पाते पर जिस जगह तुम पलीं, बड़ी हुईं उसे भी अपना घर ही समझना। हम सबको हमेशा अपना समझना।" पहली बार उनको चंडी माई कहकर आपस में मज़ाक करने पर अफ़सोस हुआ था। मन हुआ उनसे लिपट जाऊँ, खोल डालूँ अपना सामान, कह दूँ पापा से कि मुझे कहीं नहीं जाना है-मैं यहीं ठीक हूँ।

पर जाने क्या होता है घर नाम के इस दो अक्षरीय शब्द में कि इंसान खिंचा चला आता है-कितना अपनत्व, कितनी आस, कितनी सुरक्षा इसके साथ जुड़ी होती है कि यह सारी दुनिया का पर्याय बन जाता है।

मैं भी खिंची आई थी। यह भी भूल गई थी कि घर तो मुझे तभी जाना था जब मेरी बीमारी का इलाज हो जाता। क्या डॉक्टर अंकल ने पापा को नहीं बताया कि मेरे इन मुड़े-तुड़े हाथ-पैरों का कोई इलाज नहीं? घर जाने के अहसास ने सब कुछ भुला दिया था।

घर क्या होता है? ख़ाली मकान तो घर नहीं होता न! कितना छोटा-सा आसान-सा शब्द, पर परिभाषित करने बैठो तो कितना कठिन।

गाड़ी के साथ-साथ ही मन भी बराबर दौड़ता रहा था। कल्पना में ही कभी मम्मी की गोद में सिर रखकर लेट जाता तो कभी दीदी से लिपट जाता। कभी रवि भैया को देखकर मुस्कुराने लगता तो कभी शशि के सिर पर ही हाथ फेर देता, फिर रूठकर मुस्कुराने लगता-"एक चिट्ठी भी नहीं लिख सकते थे कभी अपनी बहन को?" मैंने अपनी किताबों में सहेजकर रखी फ़ोटो एक बार फिर निकाल ली थी। पापा निश्चिंत सो

रहे थे। मैं अपनों को पहचानने में लगी थी–अपने, जो अपने होकर भी आज तक कितने दूर रहे थे और इतनी दूर होकर भी आज यकायक इतने पास आ गए थे।

स्टेशन पर अपनी लाठी सँभालती पापा का सहारा लेकर मैं उतरी तो हर चेहरे में मुझे मम्मी-दीदी-भैया-शशि ही दिखाई देते थे। "इतने सवेरे आकर क्या करते? अब तो तुम हमेशा रहोगी ही उनके पास..." न जाने पापा मुझे कोई सफ़ाई देने का प्रयत्न कर रहे थे या सांत्वना। पापा पुरुष हैं न! कैसे समझ पाते कि इतने बरस आश्रम में चंपा बाई और कालू महाराज के शासन में रहने के बाद अपने घरवालों के पास जाने का अहसास कैसा होता है, अपने घरवालों को पहली बार देखने की ललक क्या होती है!

माला, विमला, सुधा तो हर छुट्टी में घर चली जाती थीं। सुधा की तो मम्मी खुद लिवाने आतीं। और जब भी आतीं साथ में ढेर से फल-मिठाई होते, हमारे लिए। "ये तो घर जाकर खाएगी–मेरे साथ।" सुधा पर उनका दुलार बात-बात में टपका पड़ता। विमला को लेने अधिकतर उसके भैया आते। माला की तो दीदी ही उसी शहर में थीं–दस-पंद्रह दिन पर पहुँच जातीं–"आज चुन्नू का जन्मदिन है...आज मुन्नी के पास होने की पार्टी...कल रात भर हिचकियाँ आती रहीं। किसी भी तरह बंद नहीं हुईं तो मैने कहा हो न हो, अपनी मालू याद कर रही है..."

मैं कभी-कभी सोचती क्या मेरी मम्मी को कभी हिचकियाँ नहीं आतीं। कभी उनकी अपनी इस बेटी को देखने की इच्छा नहीं होती जिसे उन्होंने जन्म के कुछेक दिन बाद ही भाग्य से जूझने के लिए अपने से दूर कर दिया था? असामान्य शरीर लेकर जन्मना ऐसा अक्षम्य अपराध था कि मेरा मुँह देखने की इच्छा भी उनमें कभी नहीं हुई!

सुधा भी तो कुछ-कुछ मेरे ही जैसी थी। माला का पोलियो डॉक्टर ने लाइलाज बताया था। विमला को तो उसके भैया गोद में उठाकर कार में बिठाते। मेरे हाथ-पैर टेढ़े ही सही, चलते तो थे।

लता सुनकर बोली थी–"ऐसा क्यों सोचती है? देख तेरे पापा तेरे ख़र्चे के लिए हर महीने रुपये भेजते हैं...तुझसे मिलने भी आते हैं..."

"हाँ, साल-दो साल में कभी..."

"चल साल-दो साल में ही सही...पर यह सोच कि इतना भी न आते तो ही तू क्या कर लेती...हीरा की तरह तुझे भी आश्रम को ही हमेशा के लिए दान दे देते तो...एकमुश्त पैसा देकर..."

और मेरा मन धक् से होकर रह गया था।

दाखिला करने के समय ही एक निश्चित राशि दे देने पर ये गाँधी बाल कल्याण आश्रम सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता था–माँ-बाप हर उत्तरदायित्व से मुक्त। पैसा दे देने के बाद जन्म देने के दायित्व से भी मुक्त, जन्म देकर ज़िंदगी न दे पाने के अपराध-बोध से भी मुक्त। आखिर ढेर सारा पैसा दे पाना भी तो हँसी-खेल नहीं। हर कोई दे सकता है क्या?

हीरा...उसकी माँ ने क्या कुछ नहीं सोचा होगा बिटिया के जन्म पर। पर नाम रख देने भर से ही किसी की किस्मत बदल जाती है क्या? सालभर में ही एक मामूली-सी दुर्घटना में माँ चल बसीं। पिता ने दूसरी शादी कर ली–आखिर सारी ज़िंदगी पड़ी थी सामने–पिता के भी, बिटिया के भी। कोई तो सँभालने वाली चाहिए ही। पर किस्मत की मार। खेल-खेल में एक दिन हीरा ऐसी गिरी की रीढ़ की हड्डी का निचला हिस्सा एकदम बेकार। बात दस-पाँच दिन की होती तो चलो ठीक था, पर डॉक्टरों ने सालों का चक्कर बता दिया तो मन मारकर पिता को बिटिया आश्रम की बड़ी मैडम को सौंपनी पड़ी–"आज से यह आपकी बेटी हुई।" हालात की नज़ाकत समझते हुए बड़ी मैडम ने उसे बचपन से ही अपने पैरों पर खड़ा होना सिखा दिया। शरीर का बोझ पैर न ढो पाएं, न सही पर पेट का बोझ तो ढो ही सकते हैं। माँ की आशाओं की हीरा आजकल ज़मीन में बैठी हुई कुर्सियाँ बुना करती है।

लता ठीक कहती है। पापा भी चाहते तो...मुझे अहसान मानना चाहिए कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। पर यह ख़्याल आते ही मेरे भीतर कुछ चटकने लगता है। मुझे अहसान मानना चाहिए कि मेरे मम्मी-पापा ने पैदा होते ही मुझे आश्रम को दान नहीं दे दिया...वे चाहते तो कितनी आसानी से ऐसा कर सकते थे। पर वे चाहते तो कितनी आसानी से मुझे मार भी सकते थे–मुझे यह भी अहसान मानना चाहिए कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। अपनी इस ज़िंदगी के लिए मुझे उनका अहसानमंद होना

चाहिए–इस ज़िंदगी के लिए जिसमें मैं अनाथ न होकर भी अनाथ थी, घर होते हुए भी बेघर थी–बेगानों के बीच, बेगानों से रिश्ते जोड़ती हुई।

घर क्या होता है? अपने कौन होते हैं?

घर पहुँचते ही मैं मम्मी से चिपट गई थी–"मम्मीऽऽ"। बहते हुए आँसुओं पर मेरा कोई बस ही नहीं था। मम्मी ने मेरे सिर पर हाथ फेरा था और फिर धीरे से मुझे अलग करके अंदर कमरे में ले गई थीं। वहाँ दीदी बैठी थीं–हूबहू फ़ोटो वाली और उन्हें मैंने कसकर पकड़ लिया था।

दीदी कितनी प्यारी थीं–बिल्कुल माला की दीदी जैसी–वैसी ही शांत, गंभीर। वे मुझसे मेरी सहेलियों के बारे में पूछती रही थीं, मेरी पढ़ाई के बारे में पूछती रही थीं, मेरी तबियत के बारे में पूछती रही थीं और मेरे प्यासे कान उनके एक-एक शब्द को मन में उतारते रहे थे।

"अरे छोटी दीदी तो एकदम केकड़े की तरह चलती है..." शशि ने कहा तो सब हँस पड़े। फिर मेरी तरफ देखकर चुप हो गए। मम्मी ने आँखें तरेरीं। पर मैं अभी भी हँसे जा रही थी। क्या सचमुच ही मैं केकड़े जैसी लगती थी? मुझे हँसता देखकर शशि फिर से हँसने लगा था, रवि भैया भी हँसने लगे थे, सब फिर से हँसने लगे थे। धुंध छट रही थी–बाहर भीतर सभी जगह से। घर यही होता है न–हँसता, हँसाता, हँसी-मज़ाक से भरपूर।

शशि के लिए तो मेरा नाम ही केकड़ा हो गया। सिर्फ़ केकड़ा। शशि जब केकड़ा दीदी कहता तो और भी अजीब लगता। वैसे दीदी तो बस मैं उस समय होती जब मम्मी-पापा सामने होते। बड़ा ही शरारती लड़का है। अपने दोस्तों से जाने क्या-क्या कह आया मेरे बारे में! हालत यह हो गई कि हर दस मिनट पर एक-एक दोस्त चला आ रहा है और यह नालायक किसी-न-किसी बात के लिए मुझे आवाज़ देकर इधर-उधर बुला रहा है। अब इसे भी क्या पता कि यों चलने-फिरने में मुझे कितनी परेशानी होती थी। मुझे भी तो बहुत बाद में जाकर पता चला था कि यह सब तो मुझे उठाकर चलाने की एक चाल थी जिससे इसके दोस्त लोग भी बता सकें कि घर में आए इस नए प्राणी का नामकरण उपयुक्त हुआ है या नहीं।

बहुत गुस्सा आया था बद्तमीज़ पर। यानी मैं कोई नुमाइश की चीज़ हो गई। पर जब उसने कान पकड़कर माफ़ी माँगी और पाँच उठक-बैठक भी लगाईं तो मेरा गुस्सा काफ़ूर हो गया–"चलो, जाने दो। इसी बहाने थोड़ा हँसी-खेल हो गया।" दंडस्वरूप वह मुझे घर दिखाने ले गया था–एक-एक कमरा, छत की कोठरी से लेकर नीचे के गोदाम तक। मैं कभी उसे देखती, कभी कमरों को, कभी कमरों की दीवारों को तो कभी छतों को। यह सब हमारा था। मेरा था! आज से नहीं, हमेशा से। जब से मैं पैदा हुई थी, तभी से। यह मेरा घर है...हमेशा से था। फिर वह गाँधी आश्रम मेरा क्या था जहाँ मैंने ज़िंदगी के अठारह साल बिताए? नंदो माई मेरी क्या थी? चंपा बाई से मेरा क्या नाता था? और लता? सुधा? अलका? हीरा?

संयोग ही था कि मेरे आने के कुछ दिन बाद ही दीदी की शादी हुई। शादी में लता आई थी। उसी से सबका हाल मिला। हीरा का काम अच्छा चल रहा था। आश्रम के बँधे हुए ग्राहक उसी को कुर्सी बुनने को बुलाते थे। विमला घर चली गई थी। उसका लकवा बढ़ने लगा था। माँ देखने आईं तो रो-रोकर बेहाल होने लगीं–जो गिनती के दिन बचे हैं उनमें तो बिटिया के शौक पूरे कर लें।

उसकी माँ क्या सचमुच रोई होंगी? ज़ोर-ज़ोर से? पुराने जमाने की होंगी शायद...आजकल तो कोई भी नहीं ऐसे रोता...

दीदी की शादी के दिनों की बात है...रतजगा हो रहा था। बड़ा वाला कमरा खचाखच भरा था–रिश्तेदारी की औरतें, मुहल्ले की औरतें, मम्मी के क्लब की औरतें। घर में पहली शादी थी...कइयों ने तो मुझे भी तब पहली ही बार देखा था।

"क्या नाम है?" ननौते वाली बुआ के साथ बैठी हुई मोटी-सी औरत ने पूछा था।

"पुन्नो..."

"पुन्नो...? किसके पुत्र? इसके या तुम्हारे?" वह मेरी तरफ़ देखती हुई पान की गिल्लौरी गाल में दबाकर मुस्कुराई थी।

"पुत्र ही किए होते बहन तो आज ये दिन क्यों देखना पड़ता?" भीगी पलकों पर मुस्कुराहट का पर्दा डालकर मम्मी सबकी आवभगत में लग गई थीं।

"तेरी मम्मी बहुत पॉलिश्ड हैं"–लता ने कहा था।

मैं समझ नहीं पाई थी कि मम्मी की इस तारीफ़ पर ख़ुश होऊँ या रोऊँ? मम्मी ही क्या, मेरे घर में हर कोई पॉलिश्ड है।

"पुत्रो एक बात कहूँ...बुरा तो नहीं मानेगी?" दीदी ने एक दिन कहा था।

"मैं आपकी किसी बात का बुरा मान सकती हूँ?"

"किसी आए-गए के सामने तू ज़्यादा चला-फिरा न कर। कोई कहे तो भी होशियारी से टाल जाया कर। तू नहीं जानती लोग पीठ पीछे नकल बना-बनाकर हँसते हैं। अच्छा नहीं लगता...तू बैठी ही रहा कर..."

"जी..." पलंग की पट्टी पर मेरी पकड़ अचानक ही कस गई थी।

डॉक्टर अंकल के बताए व्यायाम नियमित रूप से सुबह-शाम करते रहने पर जब मैंने बिना किसी की सहायता के मात्र अपनी लाठी के साथ थोड़ा-थोड़ा चलना शुरू किया था तब मेरी कितनी तारीफ़ हुई थी। डॉक्टर अंकल हर रोज़ सबको मेरे बारे में बताते, सबके सामने मुझसे चलने को कहते और मेरी पीठ ठोंकते नहीं थकते–"शाबाश बिटिया...माय ब्रेव गर्ल!"

गाँधी बाल कल्याण आश्रम के लोग भी पीठ पीछे मेरा मज़ाक बना-बनाकर हँसते होंगे क्या? शायद नहीं...मज़ाक बनाते भी तो कितनों का–एक मैं ही तो नहीं थी जिसे देखकर हँसी आए और फिर वहाँ के लोग पॉलिश्ड भी कहाँ थे–जो कहना होता था सामने ही कहते थे–ज़ोर-ज़ोर से कहते थे। रोते भी चिल्लाकर, हँसते भी खिलखिलाकर–डंके की चोट पर–"कौन हमें किसी का डर पड़ा है?"

मम्मी कह रही थीं डरती तो वे भी नहीं किसी से पर बोलती हमेशा धीरे-धीरे हैं। शब्द फूल से झरते हैं उनके मुँह से–एक के बाद एक।

उन दिनों मुझ पर एक अजीब ही पागलपन सवार था। जहाँ भी किसी ख़ूबसूरत चेहरे का चित्र देखती, अपनी आर्ट-कॉपी में बना लेती। सबमें से मम्मी का वात्सल्य ही झाँकता, तब यह सोचने-समझने की फ़ुर्सत या अक़्ल कहाँ थी कि ये अलग-अलग चेहरे एक ही इंसान के कैसे हो सकते हैं। हर प्यारा चेहरा मम्मी का ही हो सकता था। फिर एक-एक कर वे सब पन्ने मैंने पोस्ट कर दिए थे–इस मनुहार के साथ कि इस बार पापा के साथ मम्मी भी अवश्य आएं, प्लीज़।

और मम्मी सचमुच आ गई थीं–बिल्कुल अपनी फ़ोटो वाली मुस्कान के साथ। फिर अपने पास बुलाकर बिठाया था और टॉफ़ियों का लिफ़ाफ़ा मुझे पकड़ा दिया था। रात-दिन उन्हीं की रट लगाने के बावजूद उन्हें सामने पाकर मुझसे यह भी नहीं कहा गया कि अब टॉफ़ियों की ज़रूरत नहीं थी। मेरी पढ़ाई-लिखाई, रहने-सहने के बारे में कुछेक बातें पूछकर वे उठ गई थीं–उसी शाम की गाड़ी से उन्हें लौटना था। किसी परिचित की शादी में अचानक ही पिछली शाम उनका आने का कार्यक्रम बन गया था। उन्होंने सोचा होगा कि एक पंथ दो काज हो जाएंगे। चलते समय उन्होंने दस रुपये का नोट मुझे दिया था–"जल्दी-जल्दी में आना हुआ। तुम्हारे लिए कुछ ला नहीं सकी। अपनी पसंद से कुछ ले लेना।" मैं उन्हें जाते देखती रही थी। मन दौड़कर उनके क़दमों से लिपट गया था–"मुझे भी अपने साथ ले चलिए। मुझे यहाँ किसके भरोसे छोड़े जा रही हैं?" पर पैर जहाँ के तहाँ खड़े रहे थे–आँखें चुपचाप बहती जा रही थीं।

लता ने ही फिर समझाया था–"तू समझती क्यों नहीं कि वे जल्दी में रही होंगी? गाड़ी छूट जाती तो? थोड़ी देर को ही सही, तुझसे मिलने तो आईं। उनकी सोच जिनकी माँ होती ही नहीं...मेरी माँ मुझसे मिलने आ सकती हैं, एक मिनट के लिए भी, बोल?" लता के आँसुओं ने मेरी आँखें सुखा दी थीं। माँ की मृत्यु का समाचार भी बेचारी को कई महीने बाद मिला था। "मन की बात है वरना सोच के देखो तो इन पिछले उन्नीस सालों में ही मैं कौन अपनी माँ से एक बार भी मिली थी जो आगे मिलने, न मिलने का सवाल होता...पर ये बावरा मन माने तब ना..."

इस बावरे मन को लेकर ही तो सारे झगड़े हैं। बावरा जो ठहरा...कभी तो बड़ी से बड़ी बात पी जाएगा और कभी ज़रा-ज़रा-सी बात पर बिखरने लगेगा।

"लो बेटा...ज़रा इस पर साइन तो कर देना," पापा ने कोर्ट जाते-जाते कहा था।

कोई छपा हुआ फ़ॉर्म-सा था। उलट-पुलटकर देखा पर कुछ समझ नहीं आया। पापा को देर हो रही थी, सो जहाँ-जहाँ उन्होंने निशान लगाए हुए थे, वहाँ-वहाँ साइन कर दिए। जो भी कर रहे होंगे, मेरी भलाई के लिए ही तो।

शायद यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रेशन का फ़ॉर्म हो...

पापा के कहने पर मैंने कॉलिज में दाखिला लिया था। कोई पूछता कि दिनभर क्या करती हो तो मुझे जवाब ही नहीं सूझता। "कुछ भी नहीं" कहने पर एक अविश्वास भरा "अच्छाऽ" बड़ी देर तक मेरे आसपास मँडराता रहता। शायद ख़ालीपन के उसी दर्दीले अहसास से छुटकारा पाने के लिए मैं कॉलेज जाने को तैयार हो गई थी। मिलने-जुलने वाले पूछते कि पुन्नो आजकल क्या कर रही है तो "कुछ नहीं" कहना पापा को भी अच्छा नहीं लगता था—"दाखिला ले लेने में क्या हर्ज है? कहने को तो हो जाएगा कि लड़की ग्रेजुएशन कर रही है। तुम्हारा मन भी लगा रहेगा", उन्होंने मुझे समझाया था। लाने-ले जाने के लिए रिक्शा भी लगा दिया था।

पर बात बन नहीं सकी। आख़िर कब तक मैं हर किसी को बताती कि अब तक मैं कहाँ थी और क्यों थी? बात यहीं ख़त्म हो जाती तब भी ग़नीमत थी। पर सहज उत्सुकता लोगों को यह भी जान लेने को बाध्य करती कि इतने बरस बाल कल्याण आश्रम में रहकर अब एकाएक मैं यहाँ कैसे आ गई थी और क्यों? सच बात तो यह है कि इसका जवाब मुझे ख़ुद ही नहीं मालूम था। अपने घर लौट आने का भी कोई कारण होना चाहिए? पापा ले आए तो मैं आ गई। बस...सीधी-सी बात... पर इन लड़कियों को कुरेद-कुरेदकर पूछने की आदत ही हो तो कोई क्या करे? चुप रह जाओ तो कहेंगी घुन्नी है, बताना नहीं चाहती।

तंग आकर मैंने कॉलेज ही छोड़ दिया।

पापा ने सुना तो बोले—"चलो कोई बात नहीं। कुत्ते तो भौंका ही करते हैं। प्राइवेट दिला देंगे। तुम तैयारी करती रहो।"

पापा बड़े सुलझे हुए हैं। आसानी से गुस्सा नहीं होते। बहुत परेशान होंगे तो बाहर वाले बरामदे में चहलकदमी करने लगेंगे। सिगरेट पीते जाएंगे और कुछ-कुछ सोचते जाएंगे। किसी से न कुछ बोलेंगे, न मुस्कुराएंगे। बस सबको पता चल जाएगा कि कुछ गड़बड़ है।

अब रवि भैया को ही देख लीजिए। मनपसंद नौकरी नहीं मिल रही है तो इसमें किसी का क्या कसूर? सुना है कि पढ़ाई के दिनों में तो घुमाई करते रहे। अब जब सब जगह से 'रिगरेट्स' आ जाते हैं तो हर

किसी पर अपनी खीझ निकालते फिरते हैं–"मेरी किसी को परवाह ही नहीं है..." कभी भूत चढ़ जाएगा तो बिना खाना खाए ही सो जाएंगे– "तुमसे मतलब? मैं मरूँ या जिऊँ...?" किसी-किसी दिन तो मम्मी भी मनाते-मनाते थक जाती हैं–"हमारी जान को पहले ही कम मुसीबतें थीं क्या जो अब तुम पर भी शनीचर चढ़कर बोलने लगा है?"

पर पापा चुपचाप सुनते रहते हैं। उस दिन जब ख़ूब नाटकबाज़ी हुई तब भी बस इतना ही कहा–"हिम्मत क्यों हारते हो बेटा! अपने बाप पर से भी भरोसा उठ गया है क्या?" फिर मम्मी को भी बड़ी देर तक समझाते रहे–"धीरज रखो। भगवान चाहेगा तो जल्द ही सब ठीक हो जाएगा। तुम तो जानती हो, मेरी तरफ़ से कोशिश में कमी नहीं है।"

शाम कोर्ट से लौटे तो बड़ी जल्दी में थे–"पुन्नो बेटी...जल्दी से तैयार तो हो जाओ। फ़ोटो के बिना तो फ़ॉर्म लेंगे नहीं। मैं भूल ही गया था...और कल हर हालत में फ़ॉर्म चला जाना है...डाक-तार वालों का क्या ठिकाना? आख़िरी तारीख़ निकल गई तो सारे करे-धरे पर पानी फिर जाएगा।" मम्मी चाय लेकर आईं तो प्लेट में डाल-डालकर पी गए– "दुकान बंद न कर दे कहीं। आजकल किसी का ठिकाना नहीं..."

पापा के सब काम यों ही फटाफट होते हैं।

लौटते समय उन्होंने रिक्शा सिविल लाइंस की तरफ़ निकलवा लिया–"मेहरा साहब इधर ही रहते हैं। उनसे एक ज़रूरी काम याद आ गया–लगे हाथ करते चलते हैं...तुम्हें पूछ भी रहे थे...।"

मेहरा अंकल घर पर ही थे–"आइए, आइए..."

"इधर से गुज़र रहा था, सोचा क्यों न आपसे मिलता चलूं। अब आप खुद ही देखकर इत्मीनान कर लीजिए। सर्टिफ़िकेट तो आप ही को देना है न..."

"क्यों नहीं, क्यों नहीं...?"

"बाक़ी कागज़ात तैयार हैं। बस एक यही सर्टिफ़िकेट रह गया है। इसके लिए आपको तकलीफ़ दूँगा।"

"नहीं, नहीं, तकलीफ़ कैसी? आपका काम तो होना ही चाहिए। जेनुइन केस है।"

"आजकल कुछ पता नहीं चलता मेहरा साहब...ज़माना बड़ा ख़राब आ गया है...केस लाख जेनुइन हो पर जब तक ऑर्डर्स हाथ में नहीं आ जाते, कुछ नहीं कहा जा सकता।"

प्राइवेट इम्तहान देने की इजाज़त इतनी मुश्किल से मिलती है क्या? हम सब तो समझते थे कि बस फ़ॉर्म भरने की देरी है, जो चाहे इम्तहान दे आए। मुश्किल तो पास होने की होती थी। पर आज पता चल रहा है कि फ़ॉर्म भरना भी इतनी आसान चीज़ नहीं है। वहाँ शायद यह सब बड़ी मैडम करती होंगी।

फ़ॉर्म ठीक-ठीक चला ही गया होगा क्योंकि पापा ने उसके बाद कुछ नहीं कहा। मैं भी जी तोड़ पढ़ाई में लग गई। अच्छे नंबर नहीं आए तो सबको कितना बुरा लगेगा। किस-किसका तो पापा को अहसान लेना पड़ा था...

वैसे तो रवि भैया कम ही घर पर रहते हैं, लेकिन उस दिन मेज़ पर सिर झुकाए व्यस्त बैठे थे। शायद किसी नौकरी के लिए फ़ॉर्म भर रहे थे। तभी जीजाजी आ गए—"बरख़ुरदार! क्यों बेकार को आँखों को कष्ट दे रहे हो? आप लोगों के हाथ जो ख़ज़ाना लगा है उससे आप तो आप, आपकी अगली तीन पुश्तों को भी किताबें खोलकर देखने की ज़रूरत नहीं।"

कैसा ख़ज़ाना? मैं हैरान-सी उन दोनों को देखती रह गई थी। ख़ज़ाना मिला होता तो हमें पता न चलता? घर में उसकी चर्चा न हुई होती? जीजाजी की तो मज़ाक करने की आदत ही है। तभी तो भैया ने भी उनकी बात सुनकर कुछ नहीं कहा, मुस्कुराकर चुप हो गए।

मम्मी को मैंने बताया तो वे भी मुस्कुरा भर दीं, बोलीं कुछ नहीं। जीजाजी की आदत से कौन परिचित नहीं?

एक दिन आए तो रवि भैया भी मेरे पास ही बैठे थे। जीजाजी उनसे पूछ बैठे—"क्या हाल है साले साहब?"

"भगवान की कृपा है।" रवि भैया ने साधारण स्वर में कहा।

"अरे भगवान को छोड़ो। भगवान क्या चीज़ है...तुम्हारे ऊपर तो पुन्नो वाली की कृपा है। सुबह-शाम इसे फूल चढ़ाया करो।"

"क्या मतलब?" भैया की भवें कुछ तन गईं। जीजाजी भी हद कर देते हैं। भला यह भी कोई मज़ाक हुआ?

"मतलब भी हमें ही बताना पड़ेगा? अरे भाई! लॉटरी तो एक बार खुली और क़िस्सा ख़त्म। पर ये एजेंसी जिसके नाम निकल आती है उसकी तो हर रोज़ एक लॉटरी खुली समझो। गैस के एक-एक कनेक्शन पर आजकल हज़ार रुपये से ज़्यादा का ब्लैक है और गैस के बिना आज का हर घर अधूरा है...अब आप खुद ही हिसाब लगा लें..."

"क्या कह रहे हैं आप?" डर के मारे मेरे तो हाथ-पाँव काँपने लगे। ज़रूर आज जीजाजी चढ़ाकर आए हैं। मम्मी एक दिन कह भी रही थीं कि आजकल इनकी संगत ठीक नहीं। तभी तो उल्टी-सीधी हाँक रहे हैं।

"मैं मात्र इतना निवेदन कर रहा हूँ देवी कि इस घर का उद्धार तो आपने कर ही दिया है पर इस दास पर भी थोड़ी कृपा-दृष्टि बनाए रखेंगी तो अति उत्तम रहेगा।" जीजाजी की करबद्ध नतमस्तक मुद्रा देखकर मैं हँस पड़ी। मैंने देखा कि और किसी ने मेरा साथ नहीं दिया था। रवि भैया का चेहरा तो न जाने क्यों तमतमा उठा था।

"केकड़े...यहाँ आओगे ज़रा...जल्दी..." शशि ने ऊपर से आवाज़ दी तो बहुत गुस्सा आया। इस लड़के को कितनी बार समझाया है कि किसी के सामने तो जरा तमीज़ से बोल लिया कर। जीजाजी का क्या है–इसी बात पर मज़ाक करने बैठ जाएंगे। "यहाँ आओगे ज़रा..." दीदी को इस तरह बुलाया जाता है? आते ही इन पर इतना दुलार न दिखाती तो आज ये सब उल्टी-सीधी बातें क्यों सुननी पड़तीं? उधर जीजाजी 'देवी' 'देवी' करके मज़ाक बना रहे हैं, इधर ये छुटकू 'यहाँ आओगे', 'यहाँ आओगे' कर रहे हैं। पर इस नालायक से जाने कैसा ममत्व भरा लगाव पहले ही दिन से हो गया है कि कुछ कहते ही नहीं बनता। और ये भी तो मरा कैसा है–जब तक मुझसे दो-दो हाथ न कर ले इसके पेट में खाना ही नहीं पचता।

"क्या है, बोल?" मैं हाँफ़ते-हाँफ़ते ऊपर पहुँची।

"देखो मैं तुम्हारे लिए क्या लाया हूँ..." शशि ने मुस्कुराते हुए प्लास्टिक का एक पारदर्शी डिब्बा मेरे सामने कर दिया। भीतर फड़फड़ाती तीन रंगीन तितलियाँ थीं–कितनी सुंदर–मैं देखती रह गई–एक सुनहरी

काली, एक भूरी पीली और एक सफ़ेद बैंगनी। एक-एक को गढ़ने में भगवान को कितने घंटे लगे होंगे। बचपन में हम कितनी हसरत से यहाँ-वहाँ उड़ती इन तितलियों को देखा करती थीं–सभी कुछ तो था इनके पास–सुंदरता भी, स्वतंत्रता भी, क्षमता भी। जब मन होता जहाँ चाहतीं, चली जातीं। जीवन को छककर जीने का पर्याय।

रामू काका एक कहानी सुनाया करते थे–एक सोना राजकुमारी की, जो खेल-खेल में अपने बगीचे की तितलियों के पर कतर दिया करती थी। राजकुमारी के पास सब कुछ था–सुंदरता भी, संपन्नता भी। पर तितलियों के से पंख वह कहाँ से लाती? तितलियाँ उसके देखते-देखते फूल-फूल उड़ती रहतीं और वह इंचभर भी ज़मीन से ऊपर न उठ पाती। एक दयालु जादूगर ने यह देखा तो घुमाया अपना डंडा और बना दिया सोना राजकुमारी को एक मकोड़ा–"कभी किसी तितली का स्पर्श पा कर ही तेरा उद्धार होगा।"

हम तितलियाँ तो नहीं पकड़ पाती थीं पर तितलियों को घंटो-घंटों देखती ज़रूर थीं–क्या पता इनके छूते ही कौन-सा मकोड़ा सोना राजकुमारी बनकर आँखें मलता खड़ा हो जाए लेकिन मकोड़े के फूल जैसे भाग कहाँ कि कोई तितली उसे आकर छुए।

"लो–ये सुराख भी कर दिया है...हवा जाने के लिए..." शशि कह रहा था।

"पता है नीचे जीजाजी ख़ूब बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं? लगता है चढ़ाकर आए हैं। मम्मी पता नहीं कितनी देर में आएंगी..." मैंने डिब्बा पकड़ते हुए कहा।

"क्या कह रहे हैं?"

"सब बेसिर-पैर की बातें...पहले तो मुझे देवी-देवी कहने लगे, फिर हर घर में गैस की और गैस कनेक्शन पर होने वाले ब्लैक की बातें करने लगे...आज इन्हें अकेले मत जाने देना।"

"केकड़े! तुमने भी लगता है जीजाजी को समझा नहीं अभी तक..."

"क्या मतलब?"

"जीजाजी का मसखरापन तो एक मुखौटा है। पर भीतर से वे जितने गंभीर और दयालु हैं, कम लोग ही होते होंगे।"

"फिर ये उल्टी-सीधी बातें करने का मतलब?"

"मतलब-वतलब तो मैं नहीं जानता पर जीजाजी को ज़रूर पिछले सात साल से जानता हूँ...दीदी का देवर मेरा सबसे पक्का दोस्त है।"

शशि से ही मुझे सब पता चला था। शहर में दो नई गैस एजेंसियाँ मिलने वाली थीं। पापा को पता चला था कि विकलाँग अभ्यार्थियों को प्राथमिकता दी जाएगी। विकलाँग...ऊपर से लड़की। ऊपर से ग्रेजुएशन की तैयारी। यानी पढ़ी-लिखी भी। सब गोटियाँ फ़िट थीं। पापा को पक्का विश्वास था कि एक एजेंसी मेरे नाम ही अलॉट होगी। कई पहुँचे हुए लोगों से सिफ़ारिश करवाई थी उन्होंने। मामला ही ऐसा था कि कुछ भी चांस पर नहीं छोड़ा जा सकता था।

"नाम में तुम्हारे होगी, चलाएंगे भैया। अब तुम्हारे बस का तो य सब देखना-भालना है नहीं। और भैया के बस की नौकरी नहीं। दुकान के सैकड़ों झंझट! तुम कहाँ समझ पाओगी? पर भैया के नाम तो एजेंसी मिलने से रही। इसलिए पापा ने सोचा कि अर्ज़ी तुम्हारे नाम से भेजी जाए तो काम बन जाएगा। भैया भी ठिकाने पर लग जाएंगे। ये पढ़ाई-वढ़ाई का रोग तो उनके बस का है नहीं। पापा ने दूर की कौड़ी फेंकी है।"

और मैं...मैं सोचे जा रही थी कि प्राइवेट इम्तहान देने के लिए ये सब फ़ॉर्म भरवाए जा रहे हैं। बेवकूफ़ी की भी हद हो गई।

प्लास्टिक का डिब्बा हाथ में लिए मैं कभी-कभी सोचती कि अगर ये तितलियाँ बाहर निकलकर गुस्से में ही मुझसे चिपट जाएं तो क्या पता इनके स्पर्श से मैं भी शापमुक्त हो जाऊँ। रामू काका कहते थे कि हम सब सोना राजकुमारियाँ हैं–शापग्रस्त। मेरे हाथ-पैर मकोड़ों जैसे ही तो चलते हैं। ये तितलियाँ अगर मुझे ठीक कर दें तब तो अपनी एजेंसी मैं ख़ुद ही न सँभाल लूँगी। जीजाजी कहते थे ये तो ख़ज़ाना है...एक दिन ढेर सारे राजकुमार हमारे बड़े वाले कमरे में इकट्ठे होंगे और उनमें से सबसे सुंदर राजकुमार के गले में मैं जयमाला डाल दूँगी। कमरा तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठेगा। और मैंने डिब्बा खोला ही था कि तीनों तितलियाँ जाने कहाँ ग़ायब हो गईं...मैं उन्हें पकड़ती ही रह गई। शापमुक्त होने के लिए भी तो क़िस्मत चाहिए। और क़िस्मत ही होती तो यह श्राप ढोना ही क्यों पड़ता।

लखनऊ में इंटरव्यू था। पापा ही लेकर गए। बहुत से लोग आए थे। इंटरव्यू में कोई ख़ास बात नहीं पूछ गई–यही नाम, उम्र, शिक्षा वगैरह। पापा के एक बहुत पुराने दोस्त मिल गए। उन्होंने भी भरसक सहायता करने का वायदा किया।

बस अब चिट्ठी आने का इंतज़ार था।

उस दिन पापा बहुत गुस्से में घर आए। पहली बार मैंने उनका वह रूप देखा था–"हरामज़ादे! कहते थे अलॉटमेंट लैटर जेब में पड़ा समझिए। कमीने, बदज़ात!"

रवि भैया बिना खाना खाए ही सो गए और मम्मी ने उन्हें मनाया भी नहीं। उस दिन खाना बना ही कहाँ था?

इस समय जीजाजी आ जाते तो कितना अच्छा रहता। इस चुप्पी में तो दम घुटा जा रहा था। 'आख़िर हुआ क्या है' मुझे समझ नहीं आ रहा था कि पूछूँ तो किससे पूछूँ।

शशि ने ही बताया था कि गैस की एजेंसी मेरे नाम नहीं, किसी और के नाम अलॉट हो गई थी। उसकी मंत्रीजी के पास सीधी पहुँच थी। पापा के छुटभैये देखते ही रह गए। पापा का सारा जोड़-तोड़ गड़बड़ा गया।

बिना किसी को बताए हमारे संबंध भी गड़बड़ा रहे थे।

रवि भैया किताबों में मुँह गड़ाए बैठे रहते। मम्मी घंटों किचन में ही खटरपटर करती रहतीं। पापा हर किसी से शिकायत करते–"अंधे को भी दिख जाएगा कि लड़की अपाहिज है, चल-फिर नहीं सकती...फिर भी उस लड़के को एजेंसी मिल गई। डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट का क्या? जितने कहिए ढेर लगा दूँ...अभी, इसी वक्त। मंत्रीजी से रिश्तेदारी निकाल ली और बदमाश बाज़ी मार ले गया...कहते हैं विकलांगों की सहायता करो। विकलांग वर्ष मनाते हैं। ऐसे होता है विकलांगों का भला? अब ये अपाहिज लड़की क्या करेगी? क्या खाएगी? क्या पहनेगी? कोरे नारों से देश नहीं चला करता साहब।" पापा की उँगलियों के साथ-साथ मेरे भीतर भी बहुत कुछ चटक रहा था–क्या खाऊँगी मैं? क्या पहनूँगी? क्या करूँगी? किसी भी सवाल का तो जवाब नहीं था...

झुँझलाहट में उठाए हुए पापा के प्रश्न अकेले में मुझे बार-बार सुनाई दिए थे–कभी दीवारों से, कभी हवा से तो कभी मेरे मन के भीतर से।

और फिर जाने क्या हो गया था कि जब देखो तब दूसरों के बीच रहते हुए भी अकेलापन मुझ पर छा जाता था और वे सारे प्रश्न हर बार नए सिरे से मुझे घेरने लगते थे।

दरवाज़ा खुला तो घर लौटकर आने वालों का शोर मुझे बीते हुए वर्ष से अलग खींच लाया। "अरे पुन्नो, तूने अब तक नहीं खाया?" 'क्या खाएगी', 'क्या पहनेगी', 'क्या करेगी'–प्रश्नों ने मुझे फिर घेर लिया।

"पिक्चर तो अच्छी थी–पर ये बाद में डेथ दिखाकर मज़ा किरकिरा कर दिया," दीदी कह रही थीं।

"क्यों? वो और क्या करती? किसी पर बोझ नहीं बनना चाहती थी...बोझ बनने से तो मर जाना ही अच्छा हुआ..." शशि ने दलील दी।

"क्यों? सब कुछ छोड़छाड़ कर चली जाती...समाज से टक्कर भी तो ले सकती थी। पलायनवादी मामला अपन को कुछ जमता नहीं..." जीजाजी ने कहा।

हे भगवान! ये कैसी फ़िल्म थी...मेरा दिल बैठने लगा। क्या यह मेरी ही कहानी पर फ़िल्म बनी थी? ये कैसे हो सकता है?

सब सो चुके हैं...

अँधेरे में ही फिर-फिर उभरते प्रश्नों के बीच मुझे पापा का स्वर सुनाई देता है–"जैसे ही तुम ठीक हो जाओगी, हम तुम्हें अपने साथ घर ले जाएंगे...पक्का वादा रहा।" पर मैं ठीक कहाँ हुई थी...क्या ठीक होने से पहले आकर मैंने ग़लती की? पर अब क्या हो सकता है?

"बोझ बनने से तो मर जाना ही अच्छा हुआ..." शशि के शब्द सामने आ गए। "क्या खाएगी? क्या पहनेगी? कहाँ जाएगी?" तो क्या मैं भी बोझ बन जाऊँगी? पर मैं मर भी तो नहीं सकती। अपने इन लुंजपुंज हाथ-पैरों के प्रति ये इतना मोह मुझमें कहाँ से आ गया, क्यों आ गया, कैसे आ गया? "हमें एक-दूसरे के लिए जीना है..." लता कहा करती थी। कोई दूसरे के लिए जी सकता है क्या? मैं किसके लिए जीना चाहती हूँ?

और ये मेरा घर! अपना घर छोड़कर मैं कैसे कहीं जा सकती हूँ? घर...? अपना घर...? घर क्या होता है? दो आखर का यह छोटा-सा शब्द तन मन को कैसी-कैसी बेडियाँ पहना देता है।

"इस आश्रम को भी अपना घर ही समझना..." ये बड़ी मैडम यहाँ कहाँ से आ गईं?

एक साथ उभरते हुए प्रश्नों का समवेत स्वर मुझे निरुत्तर ही नहीं कर रहा था बल्कि हर क्षण धीरे-धीरे गहरे अँधेरे में भी ढकेलता चला जा रहा था।

: 2 :

ठाठ

क्या जीवन में कुछ भी प्रत्याशित नहीं होता?

कली की पाँखुरी के समान खिलता-महकता उसका जीवन यों सूर्यास्त के साथ ही ढल जाएगा, क्या कोई सोच भी सकता था? मदमस्त गुलाब के रक्ताभ सीने को उसके अपने ही काँटे चीरकर रख दें तो भला कैसा लगता होगा? ज़िंदगी के हर क्षण को छककर जी पाने को उतावली उसकी ज़िंदादिली एक दिन यों अचानक बीच राह में थककर ख़ामोश हो जाएगी, कौन जानता था।

वह स्वयं भी तो नहीं।

कल ही तो उसका पत्र आया था–उसी की तरह हँसता, खिलखिलाता...आगामी विनाश का कहीं भी तो कोई संकेत नहीं।

और आज यह तार...पाँच ही दिन बाद का तो चला हुआ है, पर लगता है इस बीच तो पाँच युग बीत गए। यह कैसी अनहोनी, यह कैसा अन्याय–पथराई आँखों में एक ही सवाल टँगा है।

मात्र पच्चीस बसंत देखकर दुनिया से मुँह मोड़ लेने वाली को आप क्या कहेंगे? ऐसी निर्मोही नीरू भाभी कब से हो गईं? यह भी उनके छलिया रूप का एक हिस्सा तो नहीं कि सबको रुलाकर मन भर जाएगा तो खिलखिलाती आकर सामने खड़ी हो जाएंगी–"कैसा छकाया?" इन्हीं अदाओं से तो घर भर को मोहा था उन्होंने।

नीरू मेरे लिए मात्र छोटी भाभी नहीं थी। चौदह वर्ष विद्यालय के प्रांगण में साथ-साथ बिताकर बाहर निकले तो समझ पाई कि अब एक-दूसरे के बिना रह पाना संभव ही नहीं। रोज़-रोज़ का उठना-बैठना भला कैसे यों अचानक खत्म हो सकता था। उन्हीं दिनों पता चला कि सलिल

भैया भी नीरू को पसंद करते हैं। यह सुराग़ मिलते ही नीरू को भाभी बनाकर हमेशा के लिए रिश्ते में बाँध लेने का विचार तो अपने आप ही आ गया। नीरू के मन की टोह ली और जब वहाँ भी कोई बाधा नहीं मिली तब मन में बस एक छोटा-सा संशय उपजा था–कहीं ऐसा तो नहीं कि वह मेरे साथ मेरे लिए नहीं, सलिल भैया के लिए घर आती हो! मैंने पूछ ही लिया–वह पगली शर्माकर मुझ से चिपट गई और जबरन अलग करने पर भी बड़ी देर तक आँखें मिलाने से कतराती रही।

माँ-पापा को विजातीय बहू स्वीकारने में काफ़ी मुश्किल हुई, पर अंत में वे मान ही गए। आख़िर नीरू किसी के लिए भी अजनबी तो थी नहीं। उसके घर वालों ने शोर तो ख़ूब मचाया पर ऐन मौके पर बेमन से ही सही, रस्मोरिवाज अपने हाथों से कर दिए।

और यों रातोंरात प्यारी सखी मेरी छोटी भाभी बन गई। महावर लगे पैरों ने झिझकते हुए घर की देहरी के भीतर प्रवेश किया, पर घूँघट के पीछे से झाँकती आँखों में वही पुरानी चुलबुलाहट, वही पुरानी शोख़ी।

कैसे मान लूँ कि हुमकते संगीत-सी थिरकतीं वे पायल अचानक निश्चेष्ट हुए पैरों को गुदगुदाने की कोशिश करते-करते हार चुकी हैं, माथे का कुंकुमी टीका अतीत के ऐश्वर्य की निस्तेज गाथा मात्र बना हुआ है, हर किसी का मन मोह लेने वाली मुस्कान कुम्हलाए ओठों पर ठहर अब हर किसी को रुला रही है?

हवाई अड्डे पर विदा देते समय किसने सोचा था कि वह अंतिम विदाई थी? तब तो सबने एक-दूसरे को यही कहकर चुप कराया था कि सालभर तो पलक झपकते निकल जाएगा। पर पलक झपकने के बीच इतना कुछ भी हो जाता है क्या?

कैसे हुआ, यह तो ठीक-ठीक पता भी नहीं अभी। केबल से तो बस यही पता चलता है कि भाभी सबको छोड़कर वहाँ चली गई हैं, जहाँ से कोई कभी नहीं लौटा। 'एक्सीडेंट' कैसे मान लूँ?

पर नन्हा-सा दिल कितना सह सकता है, यह तब जाना जब माँ-पापा, बड़े भैया, रमा भाभी, सभी को गंभीर मंत्रणा में व्यस्त पाया। पापा तो रिटायर होने के बाद घर-गृहस्थी से संन्यास-सा ले चुके हैं। भले-बुरे से कुछ मतलब ही नहीं, पर अब?

मित्रों-संबंधियों को इस दुखद समाचार की सूचना तो देनी ही थी। किस-किसको लिखूँ, कैसे लिखूँ, उदास मन समझ नहीं पा रहा था। तभी पापा की आवाज़ सुनाई दी–"यह कार्ड छपवाने का काम आप कर दीजिए।"

"कितने भेजने हैं? ऐसा करते हैं, पोस्टकार्ड पर ही छपवा लेते हैं।" पड़ोस के मंगल चाचा का स्वर था।

"नहीं, नहीं, पोस्टकार्ड अच्छा नहीं लगेगा। किसी बढ़िया ग्लेज्ड कार्ड पर छपवाइए। चार-पाँच सौ से कम तो क्या लगेंगे? टिकट चिपका कर भेजे जा सकते हैं।"

"वो तो ख़ैर कोई बात नहीं, पर ख़र्चा काफी बैठ जाएगा। आजकल तो सब पोस्टकार्ड ही चलाते हैं। देख लीजिए..."

"अरे औरों को चलाने दीजिए। चीज़ तो बढ़िया होनी चाहिए..."

"किस दिन बुला रहे हैं? पंडित से पंचक दिखवा लेते ज़रा..." माँ ने फिर याद दिलाया।

"आज के ज़माने में इतना कौन ख़्याल करता है? बस इतवार का दिन होना चाहिए। लोगों को आने में सुविधा रहेगी।" हमेशा की तरह पापा की ही बात मान ली गई।

"एक पासपोर्ट साइज़ का फोटो तो देना ज़रा", बड़े भैया ने कहा तो मैंने काँपते हाथों एलबम उन्हें थमा दी। पन्ने पलटने की हिम्मत नहीं हुई। नीरू शायद ठीक कहती थी कि मैं ज़रूरत से ज़्यादा ही भावुक हूँ।

कहती थी–वर्तमान कितनी आसानी से देखते-ही-देखते अतीत बन गया।

"सोचता हूँ अख़बार में निकलवा दूं..." बड़े भैया पापा से कह रहे थे।

"यह तुमने बहुत ही अच्छा सोचा, बेटा। ज़रूर निकलवा दो।" पापा की कोरें भीग आईं–"मेरे तो दिमाग़ से यह बात बिल्कुल ही निकल गई थी। अख़बार में चला जाएगा तो किसी को गिला-शिकवा नहीं रहेगा कि ख़बर नहीं मिली।"

"फ़ोटो के साथ सबके अलग-अलग नाम देने की जगह फ़र्म का ही नाम दे दिया जाए तो कैसा रहेगा?" बड़े भैया ने पूछा।

"दोनों ही दे दो...क्या नुकसान है?"

"अच्छी बात है...रमा का भी यही ख़्याल था। अभी चला जाता हूं। कल सुबह के अख़बार में आ जाएगा।"

"और सुनो..." पापा को अचानक कुछ याद आया–"एक कॉपी सलिल को दिखाने के लिए ज़रूर रख लेना।"

"कब आ रहे हैं?" रमा भाभी ने पूछा।

"लिखा तो कुछ नहीं, पर आएगा तो है ही, देर सबेर...देखकर उसे अच्छा लगेगा।"

रमा भाभी और माँ वहीं सामने बैठकर आने वालों की सूची बनाने लगीं।

"बेनी प्रसाद का नाम लिखो..."

"वह आ पाएंगे? इतनी दूर से?" माँ को संदेह था।

"क्यों नहीं आ पाएंगे? पूना ऐसा कौन दूर है? एक बार बंबई आ जाओ तो वहाँ से यहाँ की दसों गाड़ियां मिल जाएं। उनकी पत्नी की मृत्यु पर हम नहीं गए थे?" पापा को सब बातें ख़ूब याद रहती हैं।

"सो तो ख़ैर है...पर पिछली चिट्ठी में लिखा था कि बहू की तबियत ख़राब चल रही है..." माँ ने कहा।

"तो बहू नहीं आएगी! हाँलाँकि तुम तो बीमारी से उठकर गई थीं कि रिश्तेदारी का मामला है, बुरा मानेंगे..."

"रिश्तेदारी तो ख़ैर है ही...लिखवाइए..." माँ ने हमेशा की तरह मान लिया।

"कुलभूषण बाबू..."

"वह तो कभी कहीं जाते ही नहीं, लड़के को भेजें तो भेजें..."

"जाते कैसे नहीं? काम निकलवाना होता है तब तो ख़ूब जाते हैं। एक्सटेंशन की फ़ाइल अटक गई थी तो कैसे दौड़े चले आए थे...वैसे ही अब भी आ सकते हैं..."

"और...?" माँ जानती हैं मौका बहस का नहीं है।

"तुम्हारी माताजी तो आएंगी नहीं, जब तक उन्हें लिवाने के लिए कोई ना पहुँचे!" पापा भी कमाल करते हैं!

"क्यों नहीं आएंगी? ऐसे में बुलानें थोड़े ही भेजा जाता है? बेअक़्ल थोड़ी हैं वो...और बोलिए..."

"जब तुम जानती हो कौन आएगा, कौन नहीं, तो मुझसे क्या पूछती हो? ख़ुद ही लिख लो। सामान की लिस्ट अनिल को दे देना। चार-छह दिन के हिसाब से चीज़ें मँगाना। आते ही नहीं कोई चल पड़ेगा। कभी ऐन मौक़े पर हाय-हाय करने बैठ जाओ! बहू तुमने पंडितानी के लिए कहलवा दिया?"

"जी पापा, एक बार फिर याद दिला दूँगी।"

"कपड़े-लत्ते से ही काम चल जाएगा या बर्तन-वर्तन भी देने होंगे?"

"बर्तन ही नहीं, शैया भी दी जाएगी। सुहागन गई है।" माँ को बीच में बोलना ही पड़ा।

"इसकी क्या ज़रूरत है? दुनिया कहाँ-से-कहाँ पहुँच गई। अब तो इन बेकार के रीति-रिवाजों को छोड़ो।" बड़े भैया बड़ी जल्दी लौट आए थे।

"कोई हर्ज नहीं...देने दो।" पापा कहते-कहते गंभीर हो गए।

"समाज में रहना है तो समाज के क़ायदे-क़ानून मानकर ही चला जाएगा।" माँ जितनी कमज़ोर बाहर से लगती हैं, असल में है नहीं।

"इसमें समाज को क्या मिलता है? ये तो पंडितों के चोंचले हैं, अपने फ़ायदे के लिए!" भैया ने कहा।

"रस्म ही सही...लेकिन ज़रूरी। यह तो आख़िरी संस्कार होता है-मृतात्मा की शांति के लिए...इससे कभी मुँह न फेरना बेटा।" पापा की आवाज़ बिल्कुल डूब गई। गर्दन झुकाकर दो क्षण वह मौन रहे। मानो किसी गहन गुत्थी में उलझ गए हों-अचानक सिर उठाकर भैया की ओर देखते हुए पापा बोले। उनके चेहरे पर एक फीकी-सी मुस्कुराहट थी-"कभी-कभी मैं सोचता था तुम्हें यह सब कैसे बताऊँ। चलो इस बहाने मौक़ा भी मिल गया। ठीक तरह देखकर ख़ुद ही समझ लो क्या किया जाता है, कैसे किया जाता है। हरे राम...हरे राम..." कहते हुए उनकी आँखें बाईं दीवार पर टँगे देवी-देवताओं के कैलेंडर पर टिक गईं। ओठों ही ओठों में बुदबुदाकर जैसे वह बोले-"ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा। शरीर को तो एक दिन जाना ही है..."

कमरे में अचानक एक भयानक-सा सन्नाटा पसर गया।

"चार जनी देखेंगी तो बताओ नाम नहीं धरेंगी कि दान-धर्म के नाम पर ये निकाल के रखा है?" माँ थोड़ी देर चुप रहकर बहू से कहने

लगीं–"सुनना तो हमी को पड़ता है। ब्याह में लेन-देन की साड़ियाँ ज़रा हल्की ले ली थीं तो तुम्हें याद नहीं बेहट वाली और चंदा बीबी ने कितनी कानाफूसी की थी? हमें जैसे मालूम ही नहीं..."

"आएंगी तो..." भाभी ने पूछा।

"ज़रूर आएंगी! मेरा तो जी अभी से धक-धक कर रहा है–पता नहीं इस बार क्या गुल खिलाएं..."

"आपको पता है माँ जी, पड़ोस वाली इंद्रा क्या कह रही थी?"

"नहीं तो, बक रही होगी कुछ अंटसंट! उसकी तो आदत ही है। क्या कह रही थी?"

"कह रही थी एक्सीडेंट ऐसे ही थोड़े हो जाते हैं! कहीं और कोई चक्कर ना हो..."

"और चक्कर? क्या मतलब? दिमाग़ तो नहीं ख़राब हो गया उसका?"

"वोई तो मैंने भी कहा–"दिमाग तो नहीं ख़राब हो गया तुम्हारा?" अच्छा माँ जी, लिस्ट तो ख़त्म हो गई। मेनू भी बना लें अभी। उस समय कहाँ सोचते फिरेंगे।"

"और क्या? उस दिन का तो बना ही लो–सुबह-शाम दोनों टाइम का। बाक़ी फिर देखा जाएगा। सुबह तो समझो घर के ही लोग होंगे। बीस-पच्चीस से ज़्यादा तो क्या रहेंगे? जो ठीक समझो कर लेना। असली मेहमानदारी तो शाम की है, तुम्हीं बताओ क्या ठीक रहेगा!"

"सब्ज़ी, रायता, सलाद, पूरी, पुलाव तो होगा ही। और जो आप कहें! अच्छा माँजी, आपको कुछ गड़बड़ नहीं लगती? मतलब इतना बड़ा एक्सीडेंट..."

"खटका तो मेरे मन में भी है बहू, कहीं उसने जानबूझकर तो नहीं कर लिया कुछ? तेज़ तो थी ही...तुम जानो?"

"ज़िद्दी कितनी थी? माँ-बाप मिन्नतें करके हार गए, पर टस से मस नहीं हो के दी। हमारे दादा तो कहते थे कि तुम ऐसी होतीं तो गला घोंट के रख देता।" भाभी को शायद अब भी मलाल था कि उनकी फुफेरी बहन दीपा की ननद अलका से सलिल भैया की शादी क्यों नहीं हुई।

"सब्जियाँ चार-पाँच बनवा लेना।"

"जी पापा और कुछ...?"

"मिठाई क्या रखोगी? कोई अच्छी चीज़ मँगाना।" पापा ने अख़बार तहाते हुए कहा।

"जवान बहू के मरने पर मिठाई बँटवाओगे? थू-थू नहीं करेंगे सब!" माँ ने कानों पर हाथ रख लिए।

"मिठाई कौन साला बँटवा रहा है? तुम बात का बतंगड़ ना बनाया करो। दस तरह के अफ़सरान आएंगे-अनिल ने कितने हाकिमों को ख़बर भेजी है। ऐसे मौकों पर सब आने की कोशिश करते हैं। खाना तो ढंग का होना चाहिए या नहीं? बात तो समझती नहीं हो..."

"मौका देख के काम करा जाता है...अफ़सरान आ रहे हैं तो आएं-अफ़सरान नहीं जानते कि ग़मी में मिठाइयाँ नहीं खिलाई जातीं? वे इंसान नहीं होते क्या? मुझे क्या? जो मर्ज़ी आए करो..." माँ को तो हथियार डालने ही थे।

रोज़ भैया को लेकर पंडित के साथ पीपल तले जल चढ़ाने के लिए जाना इन दिनों पापा का एक आवश्यक नियम बन गया। भैया का मीटिंग या ज़रूरी काम का बहाना भी वह सुनना नहीं चाहते। एक बार दबी ज़बान से भैया ने कहा भी-"इस सबसे क्या होता है? किसे शांति मिलती है? ये तो सब मन को समझाने की बातें होती हैं।"

"कहते हैं इससे आत्मा को शांति मिलती है। अगर नहीं मिलती तो इतना-सा करने में हमारा क्या जाता है और अगर मिलती है तो क्या हमें इतना भी नहीं करना चाहिए?" इस तर्क को काटना, भैया तो क्या किसी के भी बस की बात नहीं थी।

एक सुबह मंदिर से पापा लौटे तो एक लिफ़ाफ़ा भाभी के हाथ में दिया-"देखो तो बहू कैसा है?"

कुछ कुतूहल, कुछ जिज्ञासा के साथ भाभी ने कहा-"अरे पापा, यह तो आपकी फ़ोटो है! कब खिंचवाई? इसी में आज इतनी देर हो गई क्या?"

"ठीक तो है?"

"बहुत अच्छी है" देखते-ही-देखते फ़ोटो मेरे, माँ और भैया के हाथों में घूम गई। उसे वापस रखते हुए भाभी ने लिफ़ाफ़ा पापा की तरफ़ बढ़ाया–

"मैं क्या करूँगा? रख लो, रख लो...शायद कभी काम आए!"

पेरिस से भैया का फोन आने के बाद तो संदेह करने को भी कुछ नहीं बचा। वैसे पहले भी संदेह कितना था? कार एक्सीडेंट जिसने नीरू भाभी को नहीं छोड़ा, सलिल भैया की तीन हड्डियाँ तोड़ गया था। चाहते हुए भी भैया महीने से पहले नहीं आ पाएंगे।

माला बच्चों को लेकर शनिवार की सुबह ही आ गई–"हाय बुआ, ये क्या गज़ब हुआ? मुझे तो विश्वास ही नहीं हो के दिया! पर सब कहने लगे ऐसी चिट्ठी झूठ थोड़े ही भेजेंगे? ये तो नहीं आ पाए। मैंने सोचा चलकर बुआ के काम में कुछ हाथ ही बटाऊं!"

शाम तक राधा और चंदा बुआ भी आ गईं, बेहट वाली ताई भी, बड़े मामाजी के यहाँ से पुनीत भैया और प्रेमा भाभी आईं। छोटे मामाजी ने उन्हीं के साथ मुक्ता को भेज दिया।

काफ़ी दिनों बाद सब इकट्ठा हुए थे। हालचाल पूछना शुरू हुआ तो वही आधी रात तक चलता रहा। एक-दूसरे को देखकर सबको एक-से-एक पुराने किस्से याद आते गए जिन्हें सुनकर-सुनाकर सब दोहरे हुए जा रहे थे।

नीरू भाभी की आत्मा भी यदि सुन पा रही होगी तो ख़ुश होगी। उन्हें भी हँसने-हँसाने का बहुत शौक था।

पापा चुपचाप मुस्कुरा-मुस्कुराकर सब सुन रहे थे। बीच-बीच में गर्दन हिलाते जाते। कभी एकाध फ़िकरा भी अपनी तरफ से जोड़ देते। रिटायर हुए तब से दिनभर अख़बार ही पढ़ते बीतता था। इधर कुछेक दिनों से वह काफ़ी व्यस्त हो गए हैं। गोली खाए बिना ही सो भी जाते हैं।

काम भी तो कितना है! कितने तो मिलने-जुलने वाले...सत्तू को पापा ने पहले ही हिदायत दे दी थी कि बहुत-से लोग आएंगे, चाय हमेशा तैयार रहनी चाहिए। शोक-संवेदना के लिए आए हुए लोगों से बात

करते-करते पापा यह कहना नहीं भूलते–"एक प्याला चाय और लीजिए।"

फिर दर्जनों की तादाद में आने वाली चिट्ठियाँ। एक-एक लाइन का जवाब भी दें तो दिन ख़त्म। बड़े भैया ने कहा भी था कि ऐसी चिट्ठियों के लिए धन्यवाद यों तुरंत लिख भेजने की ज़रूरत नहीं है, बाद में वे छोटा-सा जवाब अपने दफ़्तर में छपवा देंगे, नहीं तो अख़बार में ही दो लाइनें डलवा देंगे, पर पापा हर काम सही ढंग से ही करने में विश्वास रखते हैं।

मुक्ता पापा की ख़ास लाड़ली है। मुक्ता यानी छोटे मामाजी की बिटिया। बचपन में चार-पाँच साल हमारे यहाँ रही भी है। छोटे मामा बारहों मास बीमार ही चलते हैं। छोटी मामी इसी से तो नहीं आ पाईं।

पापा मुक्ता से घंटों बातें करते रहे। यह एक सवाल पूछते तो वह आधा घंटे का जवाब देती। वह बातूनी भी है और पापा से हिली हुई भी। पापा के लिए तो अच्छा ही है। उन्हें सब मामलों में अप-टू-डेट रहना पसंद है। मुक्ता लेटेस्ट ख़बरें दे रही है।

"फूफाजी, पता है, ताईजी कह रही थीं जीजी-जीजा बहू का काम मन से थोड़े ही करेंगे। पर देखती हूँ आपने तो बहुत इंतज़ाम कर रखा है!"

"और क्या कह रही थीं तेरी ताई?" रिटायर होने के बाद सब आदमी प्रपंची हो जाते हैं क्या?

"कह रही थीं जीजा तो इस शादी के भी सख़्त ख़िलाफ़ थे। लड़के की ज़िद थी सो मानना पड़ा। अब बहू का काम तो बस टालेंगे किसी तरह...मेरी तो उनसे इस बात पर लड़ाई हो गई। पहले तो मैं सुनती रही, सुनती रही कि अब चुप हों, अब चुप हों, फिर मैंने भी सुना दिया..."

"क्या कहा तूने?" पापा मुस्कुराए।

"कहना क्या था? साफ़-साफ़ कह दिया कि मेरे फूफाजी ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं। वह कभी कोई ग़लत काम कर ही नहीं सकते।"

"तू बड़ी समझदार लड़की है। हमेशा से ही थी," पापा ने उसकी पीठ थपथपा दी–"फिर तेरी ताई क्या बोलीं?"

"क्या बोलतीं? चुप हो गईं," मुक्ता अकड़कर बोली।

"तेरी माँ ने कुछ नहीं कहा?"

"माँ तो आपकी और बुआजी की हर समय बहुत तारीफ़ करती हैं..."

पापा मुस्कुराते रहे और गर्दन हिलाते रहे।

रविवार को तो काम ही काम रहा।

दोपहर बाद अचानक मज़दूरों ने आकर जब बाँस खड़े करने शुरू किए मुझे तो तभी पता चला कि शामियाने और कुर्सियों का भी इंतज़ाम किया गया है। देखते-ही-देखते शामियाने तन गए। कनातें लग गईं और चार-पाँच सौ कुर्सियाँ भी लग गईं।

भैया के विवाह का दृश्य याद करके आँखें ही नहीं छलछलाईं, मन भी उनका साथ देने को तड़प उठा—सब कुछ ऐसा ही तो था। अंतर था तो शायद बस इतना कि तब लाउड-स्पीकर पर संगीत लहरी भी गूँज रही थी, ऐसी कि जिस पर मन अपने आप झूम उठे।

आज पापा सारा इंतज़ाम एक तरफ सोफ़े में बैठकर स्वयं ही करवा रहे थे। लेकिन तब...किसने कराया था यह सब इंतज़ाम? किसने...? यादों के गलियारे में वह प्रश्नचिह्न दूर-दूर तक घूम आया। किसी ने भी कराया हो, मुझे इतना याद है पापा ने नहीं कराया था। वह तो दिनभर मामाजी के साथ बैठक में बैठे शतरंज खेलते रहे थे।

आने-जाने वालों का ताँता सुबह से ही जो लगा तो रात दस बजे बंद हुआ। दो-दो चार-चार करके लोग आए और इधर-उधर खड़े-ही-खड़े बातें करते रहे। कुछ खाना खाकर गए तो कुछ बिना खाए ही। कुर्सियाँ लगभग ख़ाली ही पड़ी रहीं।

दौड़-दौड़कर पैर दुख गए। पापा का मुँह दुखा होगा चिल्लाते-चिल्लाते—"इधर पानी नहीं है। उधर रायता ख़तम है। पूरी गर्म लाओ। मिठाई एक बार और घुमा दो..." माँ बड़बड़ाती ही रहीं—"सठिया गए हैं..."

अगली ही सुबह पुनीत भैया ने सामान बाँध लिया। पापा ने बहुत रोका पर उनका जाना ज़रूरी था।

मुक्ता प्रणाम करने आई तो पापा ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"जाकर अपनी ताई को ज़रूर बताना कि बहू की तेरही किस ठाठ से हुई है, भूलना नहीं।"

: 3 :
उपहार

मेरी बात सुनकर रवि अवाक् रह गया। उसकी आँखें मुझ पर ऐसे टिकी थीं जैसे वह पहचानने का प्रयत्न कर रहा हो कि मैं उसकी माँ ही हूँ या कोई और या फिर होश में तो हूँ। क्षण भर बाद जाने कैसे उसने कहा–"यह तुम क्या कह रही हो माँ! यह कैसे हो सकता है?"

मेरे पास उसके प्रश्न का उत्तर नहीं था। यह तो मैं भी नहीं जानती थी कि यह कैसे हो सकता है। पर मेरी समस्या तो यह है कि मैं यह भी नहीं जानती कि क्या इसका कोई विकल्प भी है।

रवि की आँखों में टँगा प्रश्न मुझे बींध रहा था, 'मुझसे मत पूछो रवि' स्वयं अपना स्वर मुझे अपरिचित-सा लगा, 'तुम्हीं सोच कर देखो...' कहते-कहते उसका धुँधलाया चेहरा देखकर मुझे लगा कि रात बहुत हो गई है, "तुम भी सोचना रवि। अभी तो जाकर सो जाओ।"

"इसमें सोचना क्या है?" उसके स्वर में एक निश्चय था और मेरे प्रस्ताव के प्रति आश्चर्य। तभी मैंने देखा कि राका चुपचाप आकर मेरे पास बैठ चुकी थी। शायद उसने मेरी बात भी सुन ली थी। अपना सिर मेरे कंधे से टिकाते हुए उसने धीरे से कहा–"यह क्या कह रही हो, माँ! यह कैसे हो सकता है? भला..." तभी उसकी आँख से एक गर्म आँसू ने मेरे कंधे पर टपककर उसकी बात पूरी कर दी।

"तुम तो डॉक्टर हो राका। सोचकर बताओ कि क्या मैं सचमुच ग़लत कह रही हूँ।"

"आप भूल रही हैं माँ कि डॉक्टर तो मैं औरों के लिए हूँ। पापा की तो मैं बस बेटी हूँ। बस बेटी। आपका कहा तो मैं सोच भी नहीं

सकती।" राका का चेहरा कैसा अजीब-सा हो आया था। शब्द चेहरे को झुलसा सकते हैं क्या?

सोचा हुआ ही हमेशा होता है क्या? पिछले महीने जो हुआ उसके विषय में हम कभी सोच सकते थे क्या? उस दिन भी शुक्रवार ही तो था। दफ़्तर से लौटकर रोज़ की तरह ही अमर ने चाय पी थी। रोज़ की तरह ही नहाकर निकले थे कि जीजी का फ़ोन आ गया। दीपा के लिए किसी लड़के को देखने की बात थी। जीजाजी चाहते थे हम सभी साथ चलें। अपनी आदत के अनुसार अमर ने तुरंत हामी भर ली। मैं नहीं गई। स्कूल की त्रैमासिक परीक्षा उसी दिन समाप्त हुई थी। ढेरों उत्तरपुस्तिकाएँ मुझे सोमवार तक जाँचनी थीं, परीक्षाफल बनाना था। अमर ने ज़िद नहीं की। क्या जानती थी कि किस बीहड़, अनंत यात्रा पर इन्हें अकेले भेज रही थी? जीजी के घर ये क्या पहुँच पाए? मेन रोड के दूसरे चौराहे की लालबत्ती पर रुके ही थे कि पीछे से आते ट्रक का पहिया रौंदता चला गया। ट्रैफिक पुलिस की गाड़ी वहाँ से न गुज़र रही होती तो हमें तो जाने कब इस हादसे का पता चलता। पता चलता भी या नहीं। हम तो यही सोचे बैठे थे कि अमर पहले जीजी के यहाँ जाएंगे, फिर वहाँ से जीजाजी के साथ बंसल साहब के घर और जाना भी तो कहाँ था! जमुनापार। लौटते-लौटते ग्यारह तो हर हालत में बजना ही था।

उत्तरपुस्तिकाएँ खोलकर बैठी ही थी कि फ़ोन घनघना उठा, "मौसी का ही होगा। चिंता कर रही होंगी कि पापा अभी चले कि नहीं।" रवि उठते हुए बोला। फ़ोन जीजी का नहीं था, पर अमर के बारे में अवश्य था। हम कैसे वहाँ पहुँचे, कैसे अमर को अस्पताल ले गए, मुझे ठीक से याद नहीं। अस्पताल में किन-किन कागज़ों पर मैंने हस्ताक्षर किए यह भी याद नहीं। बस डॉक्टर जहाँ-जहाँ उँगली रखते गए मेरा हाथ चलता गया।

वह रात यों ही चक्कर काटते कटी और फिर तो जीवन ही जैसे रातों का एक अंतहीन सिलसिला बन गया। हमारी बदहवासी देखकर वक़्त भी शायद सहमकर ठहर गया था।

अस्पताल के गलियारे में बैठे-बैठे पहली बार मैंने जाना कि भरी दोपहरी में भी आँखों के आगे अँधेरा कैसे छा सकता है। किसी

बार मैंने जाना कि खुली रहकर भी आँख कैसे सामने ही खड़े लोगों को नहीं देख पातीं। डॉक्टर बाहर आते तो हम गिड़गिड़ाते से पूछते, 'अब कैसी तबियत है, डॉक्टर? वे ठीक तो हो जाएंगे न!' 'हम पूरी कोशिश कर रहे हैं, भगवान पर भरोसा रखिए,' कहते हुए देवदूत आगे बढ़ जाते। तरह-तरह के टेस्ट होते रहते। कभी एक्सरे तो कभी रिफ़्लेक्स जाँचने का टेस्ट। कभी कैट स्कैन तो कभी इ० इ० जी०। नए-नए टेस्ट, नए-नए नाम। उनका अर्थ पूरी तरह जाने बिना हम इधर-उधर दौड़ते रहते और हर रिपोर्ट के न समझ में आनेवाले बड़े-बड़े शब्दों के बीच में ढूँढने-समझने का व्यर्थ प्रयास करते कि चोट कैसी है, ठीक हो तो जाएगी न! और फिर डॉक्टरों के आगे कुछ ऐसे ही प्रश्न और उनकी ओर से भगवान पर भरोसा रखने की सलाह।

पर भगवान पर से भरोसा अचानक दस दिन बाद उस समय उठ गया जब डॉक्टर ने रवि को बुलाकर समझाया कि अमर के मस्तिष्क को किसी भी तरह से बचाया नहीं जा सका। डॉक्टरी भाषा में वह डेड ब्रेन का केस था। हाँ, मरीज़ की जान बनाए रखने की कोशिश डॉक्टर कर सकते हैं। कब तक? 'कुछ कहा नहीं जा सकता। दस दिन, दस सप्ताह, दस महीने, दस साल, कुछ भी। आपकी किस्मत!' डॉक्टर रवि का कंधा थपथपाते हुए चले गए थे।

राका को शायद यह अंदेशा पहले ही हो गया था। उसकी आँखों में हरदम छाई लाली रास्ते की ग़र्द ग़ुबार की नहीं, आँसुओं की देन है, क्या मैं नहीं जानती। पापा की लाड़ली जो ठहरी। मेडिकल में दाखिला मिला था तो सबसे बड़े पंख इन्हीं के निकले थे-'अब कोई चिंता नहीं। अब हम आराम से बीमार पड़ सकते हैं।' कहाँ जानते थे कि कुछ बीमारियाँ ऐसी हो सकती हैं जिन्हें इनकी बेटी भी नहीं साध पाएगी। स्वयं राका भी शायद नहीं जानती थी। तभी तो पापा के सुर में सुर मिलाकर अपनी किस्मत आप बनाने की बातें किया करती। मैं तो सुनकर ही डर जाती-'हे भगवान! किसी की नज़र न लग जाए।' 'तुम अभी भी पता नहीं किस ज़माने में रह रही हो। हम तो भई अपनी बेटी का हाथ थामे इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करेंगे। हमारी किस्मत तो अब हमारी डॉक्टर बेटी बनाएगी,' अमर मुझे चुप कर देते।

किस्मत!

आपकी किस्मत! डॉक्टर ने कहा था। किस्मत ही होती तो क्या यह हादसा होता हमारे साथ! हज़ारों-लाखों लोग दिन-रात सड़कों पर चलते हैं और हँसी-ख़ुशी अपने-अपने घर लौट आते हैं। चोट ही लगनी थी तो हाथ-पैर की एकाध हड्डी ही टूट जाती। महीना दो महीना प्लास्टर चढ़ता और ठीक हो जाते। किस्मत ही होती तो क्या स्कूटर से उछलकर अमर सिर के बल सड़क के किनारे रेलिंग पर जा गिरते। क्षणभर को भी तो होश नहीं आया तब से।

अगले महीने हमारे विवाह की पच्चीसवीं वर्षगाँठ होगी। ख़ूब धूमधाम से मनाने की योजना थी बच्चों की। पार्टी का प्रबंध जीजाजी करना चाहते थे। बहुत सोच-विचार कर हमने निर्णय लिया था इस अवसर पर कुछ नया करेंगे। कुछ अनाथ, मजबूर लोगों को ऐसा कुछ देंगे जिससे उन्हें ख़ुशी मिले-क्षण भर ही सही। मात्र एक शाम की चमक-दमक में हज़ारों रुपये उड़ा देना अमर को जँचा नहीं। वे अपने ढंग से यह दिन मनाएंगे। जैसे पचीस वर्ष पूर्व अपने ही ढंग से गिनती के मित्रों के साथ जाकर मंदिर में प्रेम विवाह किया था, वैसे ही।

'तुम जैसा चाहोगी वैसा ही होगा। चिंता क्यों करती हो? जिसकी बेटी डॉक्टर और बेटा इंजिनियर बनने वाला हो उसे किस बात की चिंता?' अमर सुन सकते होते तो आज मैं उन्हें अपनी चिंता बताती। बोल सकते होते तो पूछती कि बताओ अब क्या करूँ। अस्पताल के गलियारे में बैठी-बैठी इसी सबके बारे में सोचा करती हूँ—कभी अपनी किस्मत के बारे में, कभी उस ट्रक ड्राइवर के बारे में, कभी दीपा के बारे में, कभी जीजी तो कभी रमा की माँ के बारे में। रमा की माँ।

छह-सात महीने पुरानी बात रही होगी। सुबह सोकर उठीं तो सिर कुछ भारी-सा लगा। सोचा नींद ठीक से नहीं आई होगी। दो-तीन दिन से पेट भी ठीक नहीं चल रहा था। पर कुछ ही देर बाद चक्कर खाकर जो गिरीं तो आज तक नहीं उठ पाईं। जी तोड़ कोशिश के बाद भी डॉक्टर मस्तिष्क नहीं बचा पाए। तब से आज तक बेहोश पड़ी हैं, घर के ही एक कमरे में। साँस ज़रूर चलती है। नलियाँ लगी हैं। घर के लोग समय-समय पर उन्हीं नलियों में डाल-डालकर कुछ खाने-पीने को देते रहते हैं। डॉक्टर कहते हैं यह हालत बरसों चल सकती है। घर वाले

अब उनकी मुक्ति की प्रार्थना करने लगे हैं–हे भगवान! या तो इन्हें ठीक कर दो या फिर अपने पास बुला लो। शहर का कोई डॉक्टर नहीं बचा जिसने उन्हें ठीक करने की कोशिश न की हो। अब डॉक्टरों ने भी उन्हें रामभरोसे छोड़ दिया है। रमा के पिता के पास पैसों की कमी नहीं। पत्नी से अनुराग भी उन्हें कम नहीं रहा। अचेत पत्नी की देख-रेख में किसी तरह की कोताही उन्होंने नहीं की। पर पत्नी की मुक्ति की कामना अब वे भी करने लगे हैं।

और बड़ी मामी। माँ के लकवे का समाचार सुनकर भी विदेश में बसे दोनों बेटों ने तो एक बार भी आना आवश्यक न समझा, पर बेटों की बेरुख़ी ने माँ की जीने की इच्छा ही समाप्त कर दी। साल-दो-साल पर पोते-पोतियों को देखने की आस ही तो मामी को जिलाए थी। व्यवहार-निपुण छोटे बेटे ने आने-जाने में व्यय होने वाली राशि का चेक बनाकर माँ के इलाज के लिए भेज दिया था। आख़िर वह डॉक्टर तो था नहीं जो आकर माँ का इलाज कर सकता। डॉक्टर होता भी तो क्या कर लेता? राका ने ही क्या कर लिया? डेढ़ साल से बड़ी मामी जस की तस खाट पर पड़ी हैं। खाट में छेद बनाकर उनके नित्यकर्म का प्रबंध कर दिया गया है। बड़े मामाजी जितना कर पाते हैं, करते हैं। कमरे में समाई दुर्गंध उन्हें तो नहीं व्यापती पर पड़ोसी भूले-भटके ही उनके यहाँ पहुँचते हैं। किसी को क्या दोष देना? हम स्वयं जब पिछली गर्मियों में इलाहाबाद से लौटते समय कानपुर रुके थे तो दो घंटे भी बड़े मामा के घर ठहरना दूभर हो गया था।

कल हमें साफ़-साफ़ बता दिया गया कि डॉक्टर जो कुछ कर सकते थे कर चुके। अब हमें अमर को घर ले जाना चाहिए। साँस चलाए रखने भर की दवा घर पर भी आसानी से दी जा सकती है। हफ़्ते-दस दिन पर डॉक्टर भी घर आकर देख जाया करेंगे।

कल रातभर मैं सोचती रही कि क्या करना चाहिए। सोचती रही कि मेरी जगह अमर होते तो क्या करते। क्या निर्णय लेते, और जब बच्चों से मैंने कहा कि क्यों न अमर के सब अंग मौत के मुँह में पड़े मरीजों को दान कर दिए जाएं तो वे दोनों बड़ी देर तक यही समझते रहे कि अचानक हुए इस हादसे में माँ भी अपने होशहवास खो बैठी हैं।

नहीं, मैंने अपने होशोहवास नहीं खोए। होशोहवास नहीं खोए तभी तो मैं नहीं चाहती कि एक दिन ऐसा भी आए जब अमर के संबंधी, उनके अपने बच्चे, उनके जिगर के टुकड़े और कौन जाने स्वयं मैं भी उनकी मुक्ति की कामना करने लगूं। जिस गरिमा से वे आज तक जिए हैं, उसकी रक्षा करना मेरा, उनकी पत्नी का कर्त्तव्य है, धर्म है। उठती-गिरती साँस को देखकर कोई भी उन पर दया करे, उनसे सहानुभूति दिखाए यह कल्पना मात्र भी अमर के लिए असहनीय होती है।

"मान लीजिए, कल मेरा एक्सीडेंट हो जाए, मेरा ब्रेन डेड हो जाए तो भी क्या तुम ऐसा ही करोगी? दान कर दोगी मुझे?" रवि की आवाज़ ही नहीं, शरीर भी थरथराया था।

"भगवान न करे कि मुझे इन सवालों का जवाब देना पड़े। पर यदि कभी मेरी ऐसी हालत हो जाए तो मैं अवश्य चाहूँगी कि ज़िंदा लाश बनाकर रखने के स्थान पर तुम मेरे शरीर को गरिमा दो, उसका सदुपयोग करो।"

"पापा को यदि पता चले तो उन्हें कैसा लगेगा? मैं सोचने की कोशिश कर रहा हूँ कि मेरे साथ ऐसा हुआ तो मुझे कैसा लगेगा।"

मैं भी सोचने की कोशिश कर रही थी। सोचने की कोशिश कर रही थी कि बड़ी मामी की तरह खाट पर अचेत पड़ी मुझे कैसा लगेगा जब नाक पर कपड़ा लपेटे दरवाज़े के बाहर खड़ी रवि की बहू जमादारिन को कमरा ठीक से साफ़ करने की हिदायत दे रही होगी। सोचने की कोशिश कर रही थी कि कैसा लगेगा जब रवि के बच्चे सोचेंगे कि दादी की इस खाट को अलग पिछले बरामदे में डाल दिया जाए तो उन्हें पढ़ने के लिए अलग कमरा मिल जाए। नहीं, मैं रवि के प्रति निर्मम नहीं हो रही। न ही होने वाली उसकी पत्नी या अजन्मे बच्चों के प्रति। उनके प्रेम में मुझे कोई संदेह नहीं। रत्तीभर संदेह नहीं। पर बंद कमरे में क़ैद प्यार कितने दिन जीवित रह सकता है? प्रेम को भी तो ज़िंदा रहने के लिए खुला, उन्मुक्त आकाश और उगते नए सूरज को देखने की आस चाहिए न!

"बोलो, मुझे भी दान दे दोगी न!" रवि के प्रश्न ने मेरी तंद्रा तोड़ी, "मुझे और प्रश्नों में न घेरो, बेटा। प्रश्न पहले ही क्या कम हैं? आज भर ही नहीं, मेरे लिए तो भविष्य भी एक प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा है। एक

अँधेरा प्रश्नचिह्न। प्रश्नों से हटकर बस यह सोचने का प्रयत्न करो कि हम अमर को सम्मान देने के लिए क्या कर सकते हैं–उनके उस शरीर को सम्मान देने के लिए जो जीवन से नाता तोड़ चुका है।"

"लोग क्या कहेंगे? यही न कि दो दिन भी बाप की सेवा न की गई?" रवि फिर बिखरने लगा था।

"लोगों की चिंता मत करो बेटा। जो ठीक समझते हो वही करो। लोग तो कहेंगे ही। तुम वह करो जिसमें तुम्हें संतोष हो। तुम्हारे पापा को संतोष हो। अपने पापा को सचमुच ज़िन्दा रखना चाहते हो तो अब यही एक रास्ता बचा है तुम्हारे पास। याद रखो कि प्यार मात्र साँसों को चलाए रखना ही नहीं होता। कभी-कभी प्यार बड़ा कठोर निर्णय माँगता है। लोगों को नहीं, अपने पापा को दिखाओ कि तुम उन्हें सचमुच प्यार करते हो।"

आख़िर रवि, और राका समझ गए। मान गए। अमर के दिल, गुर्दों और जिगर से चार लोग नया जीवन पा गए। उनकी आँखों ने दो लोगों की अँधेरी दुनिया में उजाला भर दिया।

सुनकर कई लोगों ने अचरज से दाँतों तले उँगली दबा ली। कई ने मेरे साहस पर मुझे बधाई दी। कौन जाने कितनों ने मन-ही-मन मुझे हृदयहीन कहा हो। मेरे बार-बार मना करने पर भी कई पत्रकार आ पहुँचे। अपने कैमरे और टेपरिकॉर्डर के साथ। लेकिन मैं कुछ भी नहीं कह पाई। नहीं कह पाई कि मैं कुछ नहीं जानती, कुछ नहीं समझती, कुछ नहीं सोच सकती कि मैंने क्या किया, क्यों किया। मुझे निरंतर यह लगता रहा कि शायद स्वयं मेरा ब्रेन डेड हो रहा है और अगर मेरा मस्तिष्क सचमुच निष्प्राण हो जाए तो मेरे बच्चो, तुम वही करना जो मैंने जाने-अनजाने या किसी विवशता में अमर के साथ किया।

अमर, मैंने सोचा भी नहीं था कि विवाह की पच्चीसवीं वर्षगाँठ पर किसी अनाथ या मजबूर को कुछ देने का निर्णय मुझे अकेले ही लेना पड़ेगा। लेकिन तुम्हारे प्यार पर विश्वास करके मैंने यह निर्णय ले लिया है। मैंने तुम्हारे उपयोगी अंग कुछ मजबूरों में बाँट दिए। मुझे यह भी नहीं पता था कि इस अवसर पर तुम मुझे क्या दोगे और मैं तुम्हें क्या दूँगी। कितना भी सोचती लेकिन क्या मैं कभी भी यह सोच पाती कि तुम मुझे ऐसा अप्रत्याशित साहस दे जाओगे और मैं तुम्हें मुक्ति?

: 4 :

बहाव

उसने सुना तो बहुत था कि 'जीवन एक नाटक है' पर अचानक कोई बात इतना नाटकीय मोड़ ले लेगी, उसकी कल्पना वह पहले कभी नहीं कर पाई थी।

लगभग डेढ़ बरस पहले का वह दिन...लगता है जैसे कल की ही बात हो। घर छोड़कर हॉस्टल में रहने का उसको पहली बार मौक़ा पड़ा था। मन में तरह-तरह की आशंकाएँ थीं–कैसे रह पाएगी मम्मी-पापा से दूर, गुड्डू भैया से दूर, विभा से दूर, बिट्टू से दूर। आज तक तो कभी यों अकेली नहीं रही थी–कहीं जाती भी तो विभा साथ होती, नहीं तो गुड्डू भैया। और जाना भी ऐसा कितना...कभी दस-पाँच दिन को मौसी के यहाँ चले गए या फिर बुआ के यहाँ। चाचाजी जो दूर ही इतने थे कि प्रोग्राम बनते-बनते हर बार ही बिगड़ जाता। और ताऊजी के क़स्बेनुमा शहर में भेजने से मम्मी घबराती थीं, "बच्चों को ज़ुकाम भी हो गया तो ढंग की दवा नहीं मिलेगी..."

ऐसे सुरक्षित माहौल से निकलकर अनजान वातावरण में अनजान लोगों के बीच अचानक रहने जाना...सोच-सोचकर ही रोली कभी घबरा जाती, कभी उदास हो जाती तो कभी बेतरह डर जाती। वही क्या, मम्मी का तो उससे भी बुरा हाल था–दिन में दस बार तो उससे कहती ही होंगी, "रोली बेटा, घबराना नहीं। बीच-बीच में कोई-न-कोई चक्कर लगाता ही रहेगा, कोई भी परेशानी हो तो तुरंत लिखना।" रोली क्या स्वयं नहीं जानती थी कि पापा का यों अचानक तबादला न हो गया होता तो उसे हॉस्टल में रहने की क्या ज़रूरत थी। वह यह भी जानती थी कि उसी की भलाई के लिए तो मम्मी-पापा उसे यहाँ दाख़िल करवा रहे थे।

जहाँ पापा की पोस्टिंग हुई थी, वहाँ तो कॉलेज की कौन कहे, हाई स्कूल भी ले-देकर एक ही था। मजबूरन रोली को हॉस्टल में रखना पड़ा। और जब हॉस्टल में ही रहना है तो क्यों न किसी बड़े शहर के अच्छे-से-अच्छे कॉलेज में जाओ। पापा का कहना था कि लड़की के आगे तो अभी सारी ज़िंदगी पड़ी है–अच्छे कॉलेज में रहेगी तो अच्छी पढ़ाई-लिखाई होगी, अच्छी बातें सीखेगी। और रोली की ज़िंदगी बनाने के लिए उन सबको मन मारकर उससे अलग होने के लिए तैयार होना पड़ा था। वरना क्या रोली नहीं जानती कि पापा की बँधी-बँधाई आमदनी में से उसका हर महीने का इतना ख़र्च निकाल पाना मम्मी के लिए कितना मुश्किल होता होगा। गुड्डू भैया पहले से ही बाहर पढ़ रहे थे...पर बच्चों की भलाई के लिए मम्मी-पापा से कुछ भी करने को कहो, वे एकदम तैयार हो जाएंगे। भले ही खुद उन्हें कितनी ही तकलीफ़ क्यों न उठानी पड़े।

हॉस्टल पहुँचने के बाद भी यही सब सोच-सोचकर रोली को रुलाई आती रही। हर तरफ़ नए-नए चेहरे, रहने-सहने का एकदम अलग ढंग और ऊपर से सीनियर्स का रौब और दबदबा। वो तो भला हो बेला का, जिसने दो गानों पर ही रैगिंग नाम के भूत से छुट्टी दिला दी, वरना उसके साथ की कई लड़कियों को तो कई-कई रात तक रगड़ा गया था।

नाते-रिश्ते भी कैसे अनजाने ही बन जाते हैं, वरना बेला से उसका क्या संबंध था। यही तो न कि दोनों को एक ही कमरे में रहने के लिए कहा गया था। बेला बी॰ ए॰ के दूसरे वर्ष में थी यानी उससे पूरे एक साल आगे। हॉस्टल के चलन के हिसाब से तो बेला को भी रोली की खिंचाई करनी चाहिए थी, बल्कि औरों से कुछ ज़्यादा ही खिंचाई करने का हक़ बनता था उसका। आख़िर वह रोली को अपने कमरे में रहने की जगह दे रही थी, पर नहीं...बेला ने न तो स्वयं ही रोली को परेशान किया और न ही किसी और को करने दिया।

रोली का मन बेला के प्रति कृतज्ञता से भरा था। बेला ने जैसे हर तरह से उसे अपनी छत्रछाया में ले लिया हो, कॉलेज की गतिविधियों के बारे में ही नहीं, हॉस्टल के सारे क़ायदे-क़ानून के बारे में भी उसी ने रोली को समझाया था। इस नए शहर के चप्पे-चप्पे से भी बेला ने ही

रोली की पहचान कराई थी। और फिर तो हाल यह हो गया कि रोली बेला की छाया बनी दिखाई देती। बेला के कारण ही तो रोली का मन इन सब नए लोगों के बीच लगा था। यहाँ आने से पहले तो घर से दूर रहने के नाम से उसे कँपकँपी-सी छूटती थी।

ढाई महीने बाद दशहरे की छुट्टियों में घर गई तो रोली को लगा जैसे मम्मी-पापा से बरसों बाद मिल रही है।

छुट्टियाँ खत्म होने पर जहाँ एक ओर घर छोड़ने का दुःख था, वहीं दूसरी ओर बेला से मिल पाने की ख़ुशी थी। और यह ख़ुशी एकतरफ़ा ही हो, ऐसी बात नहीं थी। बेला तो देखते ही उससे चिपट गई। फिर भागकर वे सब चीज़ें निकाल लाई, जो उसने ख़ासतौर पर रोली के लिए ख़रीदी थीं–रोली तो देखती रह गई–कितनी सुंदर चीज़ें थीं और कितनी सारी, कंगन, बिंदी, माला, मैक्सी, और भी जाने क्या-क्या...इतना कुछ रोली भला कैसे ले सकती थी...वह तो बेला के लिए कुछ भी नहीं लाई थी। गुड्डू भैया का ख़र्चा तो था ही था, अब उसकी पढ़ाई पर इतना ख़र्च करके मम्मी-पापा कैसे घर चला रहे थे–रोली से छिपा नहीं था।

उन्हीं दिनों बेला ने पंकज से रोली का परिचय कराया था। पंकज को रोली बेला के कज़िन के रूप में जानती थी–अक्सर ही वह बेला से मिलने आता। अक्सर ही बेला उसके साथ बाहर घूमने जाती। रोली कभी-कभी सोचा करती कि काश उसके भी चचेरे-ममेरे भाई कभी मिलने आते तो वह भी और लड़कियों की तरह बन-ठनकर उनके साथ घूमने जाती, पर ले-देकर मँझली मौसी के विजय भैया एक बार आए थे–सो भी घड़ी देखकर आधा घंटे के लिए। रोली मन मसोसकर रह गई।

पंकज से मिलना हुआ तो धीरे-धीरे पंकज के दोस्तों से भी परिचय हुआ–सुबोध, नितिन, मयंक, कमल। रोली तो छुई-मुई सी बैठी रह जाती। रिश्तेदारों को छोड़कर जो भी लड़के आज तक उसके घर आए थे, वे सब गुड्डू भैया के दोस्त ही होते और ज़ाहिर है कि भैया के दोस्त होते तो अपने आप ही उसके भी भैया बन जाते, पर पंकज को रोली ने भैया कहकर बुलाया तो बेला खूब हँसी और पंकज भी। रोली की तो समझ में ही नहीं आया कि इसमें भला हँसने की क्या बात हो गई। बाद में बेला ने ही उसे समझाया था कि ये हर लड़के को भैया कहने और भैया

समझने की आदत अब रोली को छोड़ देनी चाहिए–ये सब छोटे शहरों की आदतें हैं। पहली बार रोली को पता चला कि छोटे शहर और बड़े शहर के चाल-चलन में भी फ़र्क हुआ करता है।

एक दिन सुबोध ने रोली को कॉफ़ी पीने चलने के लिए कहा तो उसने साफ़ इंकार कर दिया। बिना मम्मी से पूछे ऐसे कैसे किसी के साथ जाया जा सकता है.. म्बोध ज़िद करता रह गया, पर रोली नहीं गई। बाद में बेला ने उसकी जमकर ख़बर ली, "चली जाती तो क्या गज़ब हो जाता? आख़िर तुम कोई दूध पीती बच्ची तो नहीं, जो बात-बात में मम्मी-पापा की इजाज़त लेती फिरो। एक कप कॉफ़ी पीने को ही तो कह रहा था सुबोध। उसका मन रख ही लेती तो क्या मुसीबत आ जाती?" रोली सिर झुकाए सुनती रही। बात तो ठीक ही थी, पर रोली क्या करे? उसे तो यों किसी लड़के के साथ अकेले बाहर जाने की सोच कर ही घबराहट होने लगती थी। और फिर वॉर्डन की कड़ी निगरानी से बच निकलना कोई हँसी-खेल था क्या?

धीरे-धीरे बेला ने रोली में भी हिम्मत पैदा की। अब रोली बड़ी हो गई थी। उसे अपने दिमाग़ से काम करना चाहिए। जो कुछ वह सही समझती है, उसे करने में डर कैसा, झिझक कैसी? घर वालों के डर से आख़िर कब तक वह अपने को समय की धारा से काटकर रखेगी और क्यों? इंसान कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। चाँद पर बसने की तैयारी हो रही है और रोली है कि कॉफ़ी-हाउस तक जाने में कतरा रही है। हद हो गई। उसे समय के साथ चलना चाहिए, यदि वह ज़िंदगी में कुछ करना चाहती है, ज़िंदगी में कुछ बनना चाहती है। ज़िंदगी में कुछ बन सके, इसी के लिए तो रोली यहाँ आई थी और रोली ने बेला की सीख मान ली।

पहली बार सुबोध के साथ कॉफ़ी हाऊस गई तो मन धुक-धुक कर रहा था, पर वहाँ आसपास जब कई एक जाने-पहचाने चेहरे दिखाई दिए तो वह कुछ-कुछ आश्वस्त हो गई। सुबोध बातें भी कितनी प्यारी-प्यारी करता था। कितना कुछ तो जानता था।

लौटते समय सुबोध ने रोली के लिए कई सारी चॉक्लेट्स ख़रीदीं। रोली ने लाख मना किया पर वह नहीं माना, "मेरी ख़ुशी के लिए।"

फिर तो हर दस-पंद्रह दिन पर यही होने लगा। सुबोध उसे घुमाने ले जाता। कभी कॉफ़ी हाउस तो कभी पिक्चर तो कभी यों ही कहीं पार्क में। हर बार लौटते समय रोली के लिए उपहार भी खरीदता था। एक बार सूट खरीदा तो रोली ने बहुत मना किया, "इतनी महँगी चीज़ वह कैसे ले ले?" पर सुबोध ने अपनी कसम चढ़ा दी।

इधर सुबोध लगभग रोज़ आने लगा था। रोली को वह अच्छा भी बहुत लगता। कितना तो ख़्याल रखता उसका। मम्मी की चिट्ठियाँ भी हफ़्ते-दस दिन में आती ही रहतीं कि परीक्षा में अच्छे अंक लाना आजकल कितना ज़रूरी है और अपने गुड्डू भैया से उसे किसी भी हालत में कम नहीं रहना चाहिए। बेला पढ़ती तो हँस देती, "लद गए वो ज़माने, जब पढ़ाई का मतलब परीक्षा और रिज़ल्ट हुआ करता था... दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच चुकी है..."

रोली समझ ही नहीं पाती कि अपनी भोली-भाली मम्मी को ये सब बड़े शहरों की बड़ी-बड़ी बातें कैसे समझाए। इस छोटे से क़स्बे में पहुँचने के बाद से तो मम्मी भी पुरातनपंथी-सी लगतीं।

एक दिन सुबोध उसे एक होटल में ले गया, वहाँ की रंगीनी और थिरकते संगीत की मादकता में रोली खो-सी गई। उसे पता ही नहीं चला कि कब सुबोध उसे ऊपर के किसी कमरे में ले गया। उस बंद अकेले कमरे में सुबोध ने रोली से जो चाहा, उसे सुनकर रोली अवाक् रह गई। अपनी दोस्ती का हवाला देकर सुबोध ने उसकी सब शंकाओं को दूर कर दिया।

वह दिन रोली कभी नहीं भूलती, कभी नहीं भूल सकती। लौटते समय सुबोध ने उसके लिए काफ़ी क़ीमती उपहार ख़रीदा था, "आज की याद में।"

उसके बाद का समय बड़ी तेज़ी से घूमा। सुबोध उसे चाहे जहाँ ले जाता और जो मन आता, करता। रोली की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं था।

"क़ीमत तो चुका देता हूं..." रोली के विरोध करने पर सुबोध ने कहा था। सुनकर रोली सन्न रह गई। सुबोध के उन उपहारों का राज़ वह आज समझ पाई थी।

"दुनिया में हर चीज़ की क़ीमत चुकानी पड़ती है।" बेला ने अपने परिचित दार्शनिक अंदाज़ में रोली को समझाया था, "ठाठ से जीना है तो खाओ, पिओ और मौज करो।"

रोली का बिसूरना ख़त्म नहीं हुआ तो बेला की आवाज़ कुछ सख़्त हो आई, "इन दक़ियानूसी बातों में कुछ नहीं रखा है...रोएगी तो पछताएगी ...कविता, सरला, मुक्ता, डेज़ी–किसी को भी देख ले–सब मौजमस्ती करती हैं और ख़ुश रहती हैं। तू ही क्या सबसे निराली है?"

रोली क्या जवाब देती?

धीरे-धीरे सुबोध ने अपने दोस्तों से भी उसे मिलवाया था–विकास, अतुल, राकेश। सब रोली को उपहार देने को तैयार थे–एक से एक। क्रोध और अपमान से वह तिलमिला उठी थी, पर उस स्थिति में सहारा देने को अगर कोई था तो बस उसके अपने आँसू। रोली को लगा कि इन आँसुओं के बहाव में वह स्वयं ठहर नहीं पाएगी। बेला ने ठीक कहा था–वह बड़ी हो गई है–बहुत बड़ी। इतनी ब़ड़ी कि स्वयं उसके पैर उसका बोझ उठाने में असमर्थ लग रहे थे। एक तेज़ बहाव के बीच में वह खड़ी थी–जहाँ भी पैर रखती, धार के साथ कटती हुई मिट्टी में उसके पाँव धँसते चले जाते, गहरे और गहरे।

: 5 :
विश्वासों के खँडहर

मेघना ने जो सुना उस पर वह सहसा विश्वास नहीं कर पाई। सुनकर बस अवाक् रह गई।

प्रतिक्रिया के नाम पर न चीख़-चिल्लाहट, न शिकवा-शिकायत। लेकिन बहुत रोकते-रोकते भी गर्म आँसुओं का एक तूफ़ान-सा आया और गालों को रौंदता हुआ आँचल पर बिखर गया। सौरभ उसी तरह किताब में सिर गड़ाए रहे। उसे बरसों पहले के वे दिन याद आ गए जब उसका एक भी आँसू निकल आता तो सौरभ मोती कहकर सहेज लेते। वही सौरभ आज इतनी बड़ी बात दो टूक कहकर यों बैठे थे मानो उससे उनका कोई संबंध ही न हो। स्वर इतना सपाट कि क्षणभर को तो वह समझी कुछ पढ़कर सुना रहे हैं। बात का मतलब तो बहुत बाद में समझ में आया।

समझ में पूरी तरह अभी भी कहाँ आया था? 'नेहा के बिना अब वे नहीं रह सकेंगे'–यही कहा था न उन्होंने? मतलब उसके बिना रह लेंगे? शून्य में बड़ी देर तक वह उन बीते हुए दिनों को तलाशती रही जब सौरभ ने अपनी हर ख़ुशी उसी में देखी थी। पप्पू की किलकारी के साथ वे भी किलकते। तितली के पंखों पर उसके साथ वे भी उड़ते। घर लौटती चिड़ियों का कलरव उन तीनों की हँसी में मिलकर सिंदूरी साँझ को और भी मादक बना देता।

इंद्रधनुष की सतरंगी आभा शायद उसी क्षण कुम्हला गई थी जब नेहा से उसने सौरभ का परिचय कराया। नेहा उसी के शहर की थी और उसी के विद्यालय में गणित की अध्यापिका होकर आई थी। 'नई होने के कारण अकेलापन महसूस करती होगी'–यह सोचकर वह उसे अक्सर अपने घर बुला लाती। हॉस्टल का क्या ढंग? आग्रह करके खाना

खिलाती। सौरभ उसे बस स्टॉप तक छोड़ने आते। पप्पू को सुलाने के लिए उसे घर पर ही रुकना पड़ता। वह समझती 'पति कितने सहृदय हैं', एक बार भी आनाकानी नहीं, एक बार भी अहसान जताने की कोशिश नहीं। आखिर उसी की सखी की ख़ातिर तो आने-जाने की तकलीफ़ उठाते हैं। वह कृतज्ञता से भर जाती। निर्मल आकाश की उज्ज्वल शुभ्रता की आदी दृष्टि स्याह रातों के राज़ जान पाती भी तो कैसे? विश्वास और अपनत्व की पर्तों में छिपा काला नाग एक दिन उसके हरे-भरे वसंत को डस लेगा—वह सोच भी नहीं पाई और घर से बस स्टॉप तक का दस मिनट का रास्ता धीरे-धीरे भूल-भुलैया बन उसी को छल गया।

उसे याद है एक रात पानी बरसने लगा था। उसने कहा भी कि नेहा वहीं ठहर जाए पर नेहा को लौटकर कुछ ज़रूरी पत्र लिखने थे। सौरभ तुरंत खड़े हो गए—"आने-जाने में देर ही कितनी लगेगी! पानी इतना तेज़ थोड़े ही है..." पप्पू को थपकी देते हुए भी वह बराबर सोचती रही कि कहीं वे भीग न रहे हों, सड़क पर जगह-जगह पानी भर गया होगा...छाता कितना बचाव कर सकेगा...गीले कुर्ते को फैलाते हुए भी सौरभ ने शिकायत का एक शब्द नहीं कहा। मेघना कृतज्ञता से भर गई।

पप्पू बड़ा होता जा रहा था। नेहा ने उसको गणित में पारंगत बनाने का बीड़ा उठाया। पर बेटे का किताबी जोड़-बाक़ी कब पति के लिए भूगोल का विषय बन गया—मनोयोग से सखी के लिए भोजन तैयार करती मेघना नहीं जान पाई। तब भी नहीं जब नेहा की उपस्थिति सौरभ के घर लौटने के लिए अनिवार्यता बन गई। वह पगली समझती नेहा मित्रता के नाते उसका हाथ थामे है। पर नेहा उन दो हाथों के पुल को पार कर अंतरंगता के नए आयाम खोज चुकी थी। एक दिन नेहा ने झटके से अपना हाथ पीछे खींचा तो मैत्री और विश्वास का वह नाज़ुक पुल भरभराकर नीचे बहते आकर्षण और आवेग के उद्दाम प्रवाह में तिनके-सा बह गया। बची तो बस मेघना की बदहवास उदासी।

सुनने वाले हैरान रह गए। "सौरभ ने नेहा में आख़िर देखा क्या?" कुछेक ने पूछ भी लिया। दर्पण के सामने खड़े होकर घंटों-घंटों मेघना ने भी यही सवाल स्वयं से किया था। कहीं भी तो कमी नहीं थी उसमें। औसत से अच्छा रंग-रूप, सप्रयास वश में रखी गई काया, आकर्षक

चितवन; कम बोलने वाली अवश्य थी वह, हमेशा से ही, पर आज तक तो सौरभ ने उसके गंभीर स्वभाव की तारीफ़ ही की थी। उसे याद आया–नेहा की वाचालता का शुरू-शुरू में सौरभ मज़ाक बनाते तो वही सखी की पैरवी करती–"अभी छोटी है। समय के साथ-साथ सीख जाएगी।" आज लगता है सीखना नेहा को नहीं, स्वयं मेघना को ही था–जीवन की कठोर वास्तविकताओं को, आकर्षण-प्रलोभन में डूबते-उतराते जटिल मानव-मन को।

मेघना अपने आदर्शों में ही खोई रही। खोई रही कालिदास और भास के काव्य में, पाणिनि के व्याकरण में। शब्दों और भावों की बारीकियों में उलझी वह मानव संबंधों का व्याकरण नहीं समझ पाई। अटूट विश्वास की डोर ने आज जाल बनकर उसे जकड़ लिया था और गहन पीड़ा से छटपटाती वह निकलने का कोई रास्ता नहीं देख पा रही थी। रास्ता था भी क्या? पति को नेहा से विमुख करने की कोशिश करे? पर कैसे? नेहा ने साफ़-साफ़ कह दिया था कि वह सौरभ को छोड़ नहीं सकती। उन दिनों तो वह खुले आम सौरभ के साथ घूमती थी। दुनिया से डरने में उसे विश्वास नहीं था। "असली चीज़ तो मन की ख़ुशी है, शादी-ब्याह के सामाजिक ठप्पे के ही होने न होने से क्या फ़र्क पड़ता है?" नेहा के निर्लज्ज सवालों का जवाब उसके पास नहीं था। किसी के पास भी नहीं था। नहीं, शायद सौरभ के पास था। तभी तो उन्होंने इतना बड़ा फ़ैसला कर डाला था–बिना कुछ कहे, बिना कुछ सुने।

उस दिन मेघना कुछ अधिक ही उदास थी। नेहा आई तो वह अपलक उसे देखती रही। काफ़ी शोख़ साड़ी पहने थी–लाल चटख़ रंग पर बड़े-बड़े पीले फूल। चूड़ियों से खनकती कलाइयाँ। बड़ा-सा जूड़ा। लाल घेरे में पीली बिंदी। अनायास ही वह अपनी ओर देखने लगी–फीकी-सी साड़ी, गर्दन तक ढलकते बाल-शृंगार करे भी तो किस मन से? किसके लिए? उसने नेहा का हाथ पकड़ लिया–"मैंने हमेशा तुम्हें अपनी छोटी बहन माना है। माना है कि नहीं?"

"तो...?"

"[illegible] तुम्हें मौसी कहता है। मौसी समझता है..."

"तो...?"

"सारा शहर थू-थू कर रहा है...कुछ तो सोचो..." मेघना समझ नहीं पाई और क्या कहे?

"तो...?" और नेहा फक से हँस दी थी। एक बेशर्म हँसी। मेघना तिलमिलाकर रह गई, आगे कुछ भी कहना बेकार था।

मेघना क्या करे अब? कहाँ जाए? नौकरी उसकी पक्की थी, अच्छी थी। पर ज़िंदगी आर्थिक सुख-सुविधाओं का ही नाम तो नहीं। पहाड़-सी ज़िंदगी अकेले कैसे काटेगी? और पप्पू? पप्पू की बात तो अभी उठी ही नहीं थी। पता नहीं सौरभ उसके बारे में क्या फ़ैसला करें? उसे अपने पास ही रखने की ज़िद करने लगे तो...अदालतों के दरवाज़े खटखटाकर उसने बेटे को अपने पास रख ही लिया तो भी क्या हासिल हो जाएगा? बेटे के भविष्य की सारी ज़िम्मेदारी अपने कमज़ोर कंधों पर कैसे झेल पाएगी? पर बेटा भी सौरभ को सौंप देगी तो जिएगी कैसे? सौरभ तो इन दिनों इतने आत्मलीन हो गए हैं कि अपने सिवा कुछ और सोच ही नहीं रहे हैं। उनकी दुनिया केवल नेहा तक सीमित है आजकल।

सौरभ को भी क्या दोष देना! वही तो ज़िद करके नेहा को अपने घर लाया करती थी। कंपनी देने के लिए। उसी नेहा ने अपना अकेलापन आज पूरी तरह दूर कर लिया तो शिकायत कैसी? मेघना नेहा को छोटी बहन मानती थी। एक ही शहर की जो थीं दोनों। बड़ी बहन पर नेहा ने पूरा-पूरा अधिकार समझा। यौवन का जंगली झरना उम्र के गांभीर्य और आत्मनियंत्रण को अपने बहाव में ले उड़ा तो इसमें सौरभ का क्या दोष?

एक ही शहर की होते हुए भी मेघना और नेहा में ज़मीन-आसमान का अंतर था। एक ठहरा हुआ गुनगुनाती धूप का टुकड़ा तो दूसरा सूरज के साथ अठखेलियाँ करता क्षण-क्षण रंग बदलता चंचल बादल। स्वभाव ही नहीं, विचारों में भी दोनों में समानता न थी। नेहा जब सभा-गोष्ठियों में खड़ी होकर लीडराना अंदाज़ में पुरानी मान्यताएँ छोड़कर नए तौर-तरीक़े अपनाने की बात करती तो मेघना ही नहीं, और भी बहुत-सी अध्यापिकाएँ प्रभावित हो जातीं—नया ख़ून, नया जोश। जल्दी ही नेहा ने उन लोगों के बीच अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। विचार भी तो विशिष्ट थे उसके। नारी समानता पर तो बोलना शुरू करती तो धुआँधार

बोलती ही चली जाती। उनके विद्यालय से पहली रैली उसी ने आयोजित करवाई थी–बसों में लड़कियों के साथ होने वाली छेड़छाड़ के ख़िलाफ़। छात्रा संघ द्वारा वर्षों से आयोजित हो रही सुंदरी प्रतियोगिता बंद कराने का श्रेय भी उसी को था। उसी ने छात्राओं को इसके ख़िलाफ़ उकसाया था। नेहा के इन साहसिक क़दमों से सभी प्रभावित हुए थे–मेघना भी। घर आकर वह सौरभ को विस्तार से सब कुछ कह सुनाती। सखी की उपलब्धियों में उसे कहीं-न-कहीं आत्मतोष अवश्य मिलता। जागरूकता का पहला क़दम उसी के शहर की, उसी की सखी उठा रही थी–यह क्या छोटी बात थी? अधिकतर तो नेहा ही उसके साथ आ जाती और सौरभ उसी के मुँह से सारा क़िस्सा सुनते।

औपचारिक प्रशंसा का स्थान कब अनुराग ने ले लिया–पति समर्पिता मेघना नहीं देख पाई। नेहा तो सभी आदेशों और वर्जनाओं के विरुद्ध थी। इस नई रोशनी की चकाचौंध में सौरभ बहक गए।

उसने नेहा को समझाने की कोशिश की थी। मित्रता का वास्ता देकर, पप्पू का वास्ता देकर, समाज का वास्ता देकर। नेहा सुनकर हँस दी थी– "लड़का-लड़की राज़ी तो क्या करेगा काज़ी?" चुप रह जाने के अतिरिक्त मेघना के पास कोई रास्ता था क्या?

कई बार सोचा कहीं दूर चली जाए, पप्पू को लेकर कहीं दूर चली जाए। पर कहाँ? कहाँ चली जाए? विद्यालय जाना तो छोड़ा नहीं जा सकता और वहाँ वह नेहा से कैसे बचेगी? उसकी मुस्कुराहट-खिलखिलाहट से कैसे बचेगी?

मेघना को पति से इतनी शिकायत न थी–यौवन का आकर्षण तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को डिगा देता है। सौरभ तो साधारण इंसान ठहरे। पर अपनत्व और स्नेह का घात करने वाली नेहा की परछाईं से भी उसे नफ़रत-सी हो आई। नेहा ने ही तो जान-बूझकर उसका घर उजाड़ा था– वह चाहती तो सौरभ को रोक सकती थी।

मेघना सोचती रही, सोचती रही। किस पड़ाव पर जाकर उसकी ज़िंदगी रुकेगी, वह नहीं जानती। जानकर होगा भी क्या? पर यह राख हुआ दिल क्या फिर से ज़िंदा हो सकेगा? चटके हुए विश्वास के टुकड़े क्या फिर से जुड़ सकेंगे कभी?

आज तक परित्यक्ता नारी के बारे में जब भी सोचा मेघना ने यही समझा था कि पुरुष ही अन्याय करता है, अत्याचार करता है। पर आज उसे लग रहा था कि असली दोषी वह दूसरी स्त्री है जो इस अत्याचार को बढ़ावा देती है, इस अन्याय के पौधे को सींचती है। इस स्थिति के लिए उत्तरदायी कौन है–सौरभ? नेहा? मेघना तौलती रह जाती है।

माँ सारा दोष सौरभ को देती हैं। कहती हैं–मर्दों में मोह-माया नहीं होती। पर मेघना यह कैसे मान ले? क्या कभी कोई पुरुष अकेला बिना किसी दूसरी स्त्री की सहायता के पत्नी को ऐसा आघात दे सकता है? सौरभ और नेहा के व्यवहार में अंतर ही क्या है? दोनों ने ही तो उसके निश्छल विश्वास को छला है।

: 6 :

बनवास

बरसों पहले की वह सुबह जब अपने सब नाते-रिश्तेदारों से विदा लेकर वह जहाज़ में चढ़ा था, उसे आज भी ज्यों-की-त्यों याद है...वह सारी रात आँखों में ही कटी थी। पिताजी बार-बार हिदायतें देते–"बेटा अपने नाम-पते की पर्ची हमेशा जेब में रखना, सबसे मिल-जुलकर रहना...एकदम अजनबी देश, अजनबी लोग, पता नहीं कब क्या ज़रूरत पड़ जाए...और देखो, हर हफ़्ते एक चिट्ठी ज़रूर भेजना...मेरी न भी मिले, तब भी तुम ज़रूर भेजते रहना..." आँखों का गीलापन आवाज में उतर आने पर पिताजी छत की तरफ़ देखते हुए चुप हो गए थे, उनका काँपता हाथ उसकी पीठ पर ही था। माँ बार-बार मसाले-दाल की पोटलियाँ टटोलकर देखतीं कहीं कुछ छूट तो नहीं गया। सामान सहेजते जैसे अपने से ही बातें करने लगतीं–"पता नहीं कैसे बनाएगा...कैसा कच्चा-पक्का खाएगा... मैं होती तो क्या इसे हाथ भी हिलाने देती?"

पहली बार उनका रवि यों अकेला घर से इतनी दूर जा रहा है। इंटरव्यू के चक्कर में ज़रूर कई एक बार उसे शहर से बाहर जाना पड़ा, वरना सच मानो, रवि तो अपने घर की रूखी-सूखी खाकर ही हमेशा खुश हुआ है। इसकी बुआ एक बार ज़िद करके इसे अपने साथ लिवा तो ले गई थीं–उन्होंने तो तभी कह दिया था, "बीबीजी क्यों मुश्किल गले बाँध रही हो, लड़का दो ही दिन में आफ़त मचा देगा, आप नहीं जानतीं इसका चलित्तर..." पर बुआ समझीं कि वे लड़के को भेजना नहीं चाहतीं इसी से बहाना बना रही हैं। ले गईं वे रवि को अपने साथ। पाँचवें दिन सुबह-ही-सुबह फूफा की उँगली पकड़े-पकड़े जनाब आ लिए। ऐसा चिपटकर रोया कि बस पूछो मत। तब से आज तक, मजाल है जो किसी

भी रिश्तेदार के घर ज़रूरत से एक दिन भी ज़्यादा टिका हो। और आज इतनी दूर सात समुंदर पार जा रहा है...कैसे सब कुछ सँभालेगा... सोचते सोचते माँ रो पड़तीं।

दरअसल माँ के आँसू तो उसी दिन से बहने लगे थे जिस दिन छात्रवृत्ति के संबंध में उसके पास चिट्ठी आई थी। ठीक दो महीने बाद उसे जाना था। विदेश में बेटे की पढ़ाई का समाचार माँ ने ही अड़ोस-पड़ोस में सुनाया था। पूरे गर्व के साथ। अपने मुहल्ले में से विदेश जाने वाला रवि पहला लड़का था। पर यह भी सच है कि दिन में बधाई देने आने वाले से मुँह मीठा करने का आग्रह करने वाली माँ रात को जब तब उदासी से घिर जातीं–रवि चला जाएगा? उन सबसे दूर? इतना दूर? अभी तो दो साल का वजीफ़ा है...पर कहते हैं बाद में सालभर और बढ़ा देते हैं। हे भगवान्! कैसे कटेंगे ये दिन? अनायास ही उनकी आँखें भर आतीं।

आशा, निशा ने खूब लंबी-चौड़ी सूची तैयार कर ली थी उन सब सामानों की जो भैया को उन दोनों के लिए लाने थे–"खो तो नहीं दोगे? और देखिए कोई भी चीज़ छूटनी नहीं चाहिए...हाँ..." कई बार उन्होंने भैया को याद दिलाया था।

बुआ-फूफा, चाचा-चाची, मौसा-मौसी सभी उसे विदा देने आए थे। एयरपोर्ट पर तो अच्छा-ख़ासा तमाशा-सा बन गया था जब सबने गेंदे के हारों से उसे लाद दिया। होंठों पर मुस्कराहट और आँखों में आँसू भरकर सबने उसे आशीर्वाद दिया था, विदा दी थी। बड़ी ही मुश्किल से रवि अपने आपको सँभाल पाया था। ढुलकते आँसुओं को बरबस रोकती माँ का चेहरा दूर-दूर तक बिखरे बादलों के बीच में झाँक-झाँककर रास्ते भर उसे बेचैन करता रहा था।

इस बात को बरसों बीत गए। जाने कितना कुछ इस बीच हो गया, कितना कुछ बदल गया। वजीफ़े के तीन साल पूरे होने के साथ-साथ ही वहाँ की एक नामी फ़र्म में नियुक्ति मिली थी। तनखा इतनी थी कि किसी के मना करने का सवाल ही नहीं था। काम शुरू करने से पहले वह स्वदेश आया था पूरे एक महीने के लिए। आशा और निशा की सूची का एक भी सामान वह नहीं भूला। माँ, पिताजी, चाचा, चाची, मौसा, मौसी, बुआ

सभी के लिए उपहार ख़रीदे थे। फूफा इस बीच नहीं रहे। उनकी जानलेवा बीमारी का हाल सुनाते-सुनाते बुआ बहुत रोईं। "हम तो बर्बाद हो गए बबुआ। कब सोचा था यों बीच मंझधार में छोड़ जाएंगे...घर का हाल तो अब तुम देख रहे हो...जगन का भी वहीं कहीं अपने पास बंदोबस्त कर दो तो कुछ तो मन को शांति मिले। सुना है बड़ी भारी पगार ले रहे हो। इसका भी कुछ ठौर-ठिकाना ढूँढ़ो, बेटा-अभी तो दो-दो लड़कियाँ कुँआरी बैठी हैं...कैसे होगा...?" बुआ उसकी लाई साड़ी पर हाथ फेरती हुई बोली थीं।

माँ को अब आशा, निशा की शादी की चिंता नहीं थी। "बेटा लायक निकल आए तो माँ-बाप को किस बात की फ़िकर...?" उन्होंने रवि की बलैया लेते हुए कहा।

पिताजी ने ज़रूर दो-तीन बार उसके लौटने का सवाल उठाया था– "नौकरी तो बहुत अच्छी है बेटा! पैसे भी बहुत मिल रहे हैं। पर वहाँ रहते-रहते कहीं अपने देश को मत भूल जाना बेटा। तुम्हारे मौसा कहते हैं कि जो एक बार बाहर गया वो फिर लौटता नहीं, लौटना नहीं चाहता। पिछले हफ्ते राम बाबू आए थे वो भी ऐसा ही कुछ कह रहे थे। उनके दोनों भतीजे अमरीका में ही बस गए हैं। पर बेटा, अपना देश अपना ही होता है। इसकी सी बात और कहीं नहीं मिल सकती। इसकी मिट्टी की महक तक कहीं और नहीं मिल सकती...इससे अपने को काटने की बात कभी नहीं सोचना बेटा..."

रवि मानता था अपने घर, अपने देश से इतना दूर रहते हुए इन कुछ वर्षों में न जाने कितनी बार उसने अपने देश की मिट्टी और अपने देश की हवा को याद किया था–अपने देश के चाँद-सितारों को याद किया था। अपने घर पर सूखती मँगौड़ी, बड़ियों को याद किया था। छत की मुँडेर से दीखने वाली गलियों, मैदानों और मकानों को याद किया था। अपने देश की बरसात और उस बरसात में किलकते अपने बचपन को याद किया था। ये यादें यार-दोस्तों के बीच में भी उसे अकेला कर देतीं– एक बेचैनी उसे चारों ओर से घेरने लगती। अपने घर लौटने की बेचैनी, घर जहाँ हलवा, पकौड़ी बनाती बहनें होतीं, बात बात पर असीसतीं माँ होतीं, अपने सपने उसकी आँखों में जीते पिताजी होते...।

सपने कभी-कभी कितना छलते हैं...बचपन में उसका एक ही सपना हुआ करता था–बड़ा होकर माँ, पिताजी, आशा, निशा सभी की जिंदगी को दुनिया की हर संभव ख़ुशी से भर देने का। निम्नमध्यवर्गीय परिवार में बीता उसका बचपन...उस बचपन की एक-एक याद आज भी उसके स्मृति-पटल पर अंकित है, एक नासूर की तरह। अभाव की उस दुनिया की याद भर से उसका जी घबराता है। माँ का ही कोई आशीष फला होगा जो दरिद्रता की उस दलदल से वह स्वयं ही नहीं निकला, अपने पूरे परिवार को भी खींचकर उससे बाहर निकाल सका।

माँ सचमुच उसे आशीषते नहीं अघातीं–"रवि के ही कारण तो आशा-निशा इतने अच्छे-अच्छे वर पा सकीं वरना हमारी हैसियत तो तुम जानो किसी से छिपी नहीं थी। अब तो बस, उसकी बहू घर में आ जाए तो हम इस घर गृहस्थी के जंजाल से मुक्त हों। बहुत दिन खट लिए इस नून, तेल, लकड़ी में। वैसे भी अब तो रवि को लौट ही आना चाहिए। अपने देश में, अपने घर में। कितने बरस हो गए परदेश में रहते। अब कुछ भी कहो, परदेश तो परदेश ही ठहरा। लड़की तो हमारी नजर में कई हैं, बस रवि के आने की देर है...।"

यह इच्छा भी उनकी पूरी हुई। रवि का ब्याह धूमधाम से हुआ। अड़ोसी-पड़ोसी नाहक उन्हें डराया करते थे कि देखना रवि तो किसी गोरी मेम से ब्याह करेगा...या कौन जाने तुम्हें बताए बग़ैर कर भी चुका हो। मन तो माँ का भी गाहे-बगाहे इस आशंका से काँपता ही था। पर फिर भी वे जी कड़ा करके बोलने वालों का मुँह बंद कर ही देतीं। "कैसी बात करते हैं जी आप भी। अपना रवि वैसा हर्ग़िज नहीं कर सकता। अपने बेटे को हम अच्छी तरह जानते हैं। हमारे रवि को वहाँ बैठकर भी रात-दिन हमारे ही दुःख-सुख की पड़ी रहती है–क्या हमें नहीं मालूम?"

ब्याह के महीने भर बाद ही रवि वापस लौट गया था। इस बार बहू के साथ। घर-गृहस्थी के जंजाल से मुक्ति पाने की माँ की इच्छा पूरी नहीं हो सकी। कंपनी के साथ अनुबंध पूरा नहीं हुआ था। बीच में चले आना संभव नहीं था, माँ-पिताजी को उसने समझाया था। उन्हें समझना ही पड़ा।

पर इधर कुछ समय से उनके पत्रों में एक बात घुमा-फिराकर बार-बार कही जाती। लौट आओ रवि। आशा, निशा अपने-अपने घर-बार की

हुईं। अकेला घर उन दोनों को काटने को दौड़ता। पुरानी यादों के सहारे एक-एक दिन गिनते वे घर में यहाँ से वहाँ चक्कर काटते।

घर...लेकिन इन्हीं दिनों तो रवि को बहुत दिन बाद यह लगना शुरू हुआ था कि वह घर में रह रहा है। उसका तीन कमरे का मकान जिसमें सभी आधुनिक सुविधाएँ थीं कल्पना को साथ लाने के बाद अचानक उसे घर लगने लगा था। होम, स्वीट होम–जहाँ वह था, कल्पना थी और बहार थी। किसी प्रकार का बंधन नहीं, अभाव नहीं और न ही किसी का कोई हस्तक्षेप।

वापस लौटने पर यह सब कहाँ रहेगा? सब कुछ कितना बदल जाएगा? सभी कुछ तो...फिर भी रह-रहकर माँ-पिताजी का पत्र और हर पत्र में लौट आने का आग्रह उसके सामने एक प्रश्नचिह्न टाँक जाता था। पत्र को कल्पना पढ़ती तो अनजाने ही उदास हो जाती! उसके तो नए-नए सपने थे। नया अनुभव और नंई उमंगे।

कल्पना तो सारे के सारे परिवेश को अपनी बाँहों में समेट लेना चाहती थी। हर अनोखी, हर सुंदर चीज़ पर उसकी निगाह टिक जाती– कैसे इसे ख़रीदूँ और घर की किसी दीवार पर सजा दूँ। घर की हर दीवार, हर कोना सजाने के लिए उसके मन में जैसे उथल-पुथल मची रहती थी। उसके सामने तो बस उसका घर और उसके सपने थे जिनका कहीं कोई दूसरा छोर नहीं था जो किसी बीते हुए कल की निम्नवर्गीय यादों से जुड़ा हो या किसी उत्तरदायित्व के बोझ से दबा हो।

रवि तो अपने लंबे प्रवास के दौरान समय-समय पर कई दर्शनीय स्थल देख चुका था, कई जगह घूम आया था, पर कल्पना के लिए तो सब कुछ नया था। कल्पना हर वह जगह देखना चाहती थी जिसके बारे में उसने रवि से कुछ भी सुन रखा था। हर बार नई जगह देखकर बड़े उत्साह के साथ वह अपने घर और अपनी सखियों के पास पत्र भेजती थी। देखते-ही-देखते घूमने और छुट्टियाँ बिताने के स्थानों की उसकी सूची इतनी लंबी हो चुकी थी कि अक्सर रवि को लगता कि शायद दस साल में भी वो पूरी न हो सके।

माँ को रवि ने लिखा था जिस-जिस तीर्थस्थान पर वे जाना चाहें, जाएं। खर्चे की चिंता न करें। लौटती डाक से ही माँ का जवाब आ

गया–"इस घर में ब्याहकर आने के चार-पाँच साल बाद कई तीर्थ कर आई थी। सब देवी-देवताओं के आगे मत्था टेककर किसी तरह तुम्हें पाया था। अब तो बेटा तीर्थ की बात तभी उठेगी जब श्रवण कुमार की तरह तुम हम लोगों को अपने साथ ले जाओ और भगवान ना करे, तुमने हमारी बात नहीं मानी, तभी जाऊंगी मैं उनके आगे मत्था टेकने, उनसे तुम्हें फिर माँगने...लेकिन मेरा मन कहता है कि अबकी बार तुम मेरी बात नहीं टालोगे और घर लौटने का जुगाड़ बिठाओगे...।"

रवि क्या करे? क्या उत्तर दे इन बातों का? इन पत्रों का? कैसे लिखे कि वहाँ के घर में और यहाँ के घर में इतनी दूरी है कि उसे लाँघ पाना उसके बस के बाहर लगने लगा है।

विगत यादों के सहारे जीती हुई, ठहरी हुई-सी उम्र की थकान और आसमान को भी मुट्ठी में भर लेने की ललक लिए युवा कल्पना–इनमें तालमेल हो सकता है क्या? यह द्वंद्व भी और इसे स्वीकारने की विवशता भी शायद शाश्वत है...

बहुत सोच-समझकर रवि ने उत्तर भेजा–"माँ! सोचता हूँ कुछ देर और बनवास झेल लूँ। कुछ पैसे बचा लूँ तो वहाँ बड़ी-सी ज़मीन लेकर एक अच्छा-सा घर बन जाए जिसमें तुम सुख से रह सको, पिताजी सुख से रह सकें। इतना भी सुख तुम लोगों को न दे पाया तो जन्म अकारथ ही रह जाएगा।"

माँ का विरोध-भरा जवाब तुरंत आ गया–"बेटा, तूने तो सारे दुःख काट दिए। अब और सुख देने की धुन में कहीं इतनी देर न कर देना कि आख़िरी समय में तुझे देखने का अरमान लिए ही चली जाऊँ..." आगे के अक्षर धुँधलाए हुए थे जो माँ के आँसुओं की कहानी कह रहे थे। उसने माँ के झुर्रीदार चेहरे पर डबडबाई आँखों की कल्पना की तो मन सब कुछ छोड़-छाड़कर लौटने के लिए बेचैन हो उठा। पर मन का क्या? इसे तो जिधर चाहो, घुमा दो। थोड़ी देर रूठेगा, रोएगा...फिर मान जाएगा।

समय बहुत तेज़ी से दौड़ गया। रवि को डर लगने लगा था कि कहीं वह समय से पीछे न छूट जाए। उसे भी बस सब कुछ भूलकर तेज़ दौड़ना पड़ा। इस तेज़ दौड़ में कभी उसकी पदोन्नति हुई, कभी

परिवार में नई शाख फूटी, कभी उसने नए घर में प्रवेश किया तो कभी सुविधाओं के नए-नए साधन जुटाए।

कभी-कभी रवि को लगता था कि उसने निर्णय लेने में देर कर दी। कल्पना ही एक नए वातावरण से नहीं जुड़ गई थी, अब तो कुणाल भी बड़ा हो रहा था। नए परिवेश में जन्मे और पले हुए बच्चे को यकायक इतने दिनों बाद नई ज़मीन में रोप देना भला कैसे संभव हो पाएगा? और फिर स्वयं अपने मन में उठते विरोध के इन विंध्याचलों का रवि क्या करे जो बार-बार यही कहते कि क्यों न कुणाल इसी साफ़ स्वस्थ परिवेश में पले, बढ़े। उसे अपने अभाव-भरे बचपन की याद आती तो वह काँप उठता। भगवान न करे कुणाल पर उसका साया भी पड़े। रवि आज समर्थ था। समर्थ था कि स्वदेश लौटकर अपने परिवार को एक अच्छा-सा घर दे सके, पर आसपास के परिवेश को वह भला कहाँ तक बदलता फिरेगा?

महीना भर माँ-पिताजी के साथ बिताकर वह लौटने लगा तो फिर उन्होंने आग्रह किया–"बेटा, अब तो बहुत ही समय हो गया। अब तो सहा नहीं जाता।" दादा-दादी की गोदी में किलकारी भरता कुणाल और घर सँभालती कल्पना–सोचकर उसे भी भला-भला-सा लगता, किसी सुखद सपने की तरह। पर सपने सच नहीं हुआ करते।

टूटे-फूटे शब्दों में रवि ने कहा था–"जितना जल्दी हो सका, आऊँगा माँ! मैं ख़ुद बनवास झेल रहा हूँ।" बात पूरी करते-करते स्वयं रवि के मन ने उससे प्रश्न किया–सच? ये कैसा बनवास है रवि जिसको छोड़कर आने की बात से भी तुम कतरा रहे हो?

: 7 :

सम्मान

रातोंरात समाचार घर-घर में पहुँच गया।

व्यक्तिगत व्यस्तता के बावजूद हर चेहरे पर अविश्वास का भाव क्षणभर को उभरा। 'आजकल के ज़माने में कुछ भी हो सकता है'–की-सी उदासीनता अनेक कंधों में उचकी। 'अच्छा...?' अचरजभरा प्रश्नचिह्न अनेक आँखों में तैर गया।

यों, बात अपने आप में न तो नई थी और न ही विरल। ऐसी घटनाएं आम हो रही थीं। जगह-जगह हो रही थीं। फिर इसी में ऐसा कुछ क्या था, जो राह चलतों के पाँव ठिठककर क्षणभर को खड़े हो जाएं? घटना आम होते हुए भी उसकी नायिका विलक्षण थी।

लेडी सिंथिया ऑस्टिन को भला कौन नहीं जानता...ख़िताबों से अलंकृत परिवार में जन्म लेने भर की बात ही नहीं, प्रकृति ने भी उनके साथ भरपूर सहृदयता दिखाई थी। कहते हैं, अपने समय में जिस राह से वह गुज़र जाती थीं, उस पर चलने वाले सचमुच ही दिल थामकर रह जाते थे। गिल्बर्ट ऑस्टिन से उनकी शादी की सूचना जिस दिन अख़बारों में छपी थी, उस दिन पंद्रह घटनाएँ आत्महत्या की पुलिस के रजिस्टर में दर्ज हुईं। यों कुछेक दिलजलों का आज भी यही कहना है कि यह एक महज़ इत्तफ़ाक था और सिंथिया के अपने ही कुछ लोगों ने सस्ती वाहवाही के लिए इसे उछाला था।

जो भी हो, इसमें दो राय नहीं कि सिंथिया के साथ लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों ने ही पक्षपात किया था। गिल्बर्ट की अकस्मात् मृत्यु के बाद जब परिस्थिति तेज़ी से बदली और सिंथिया ने टेलिविज़न पर कार्यक्रम देना प्रारंभ किया, तो कटु से कटु आलोचक को भी उनकी

प्रतिभा का क़ायल होना पड़ा। उनकी नियुक्ति को लेकर हंगामा मचाने वाले भी धीरे-धीरे चुप होने लगे थे, 'जो भी हो, क्षमता इसमें है।' लगन, कल्पना और परिश्रम की सिंथिया में कमी न थी। उस पर आँखों को सुकून देने वाला चेहरा, सोने में सुहागा।

रिटायर हुईं तो लेडी सिंथिया ऑस्टिन पर सभी बड़े-बड़े अख़बारों में लेख छपे। टेलीविज़न पर दो लोकप्रिय धारावाहिक कार्यक्रम उन्होंने ही शुरू किए थे, जिनके पीछे लाखों दर्शक दीवानगी की हद तक पागल थे। 'एक संपूर्ण व्यक्तित्व' कहकर एक प्रमुख पत्रिका ने उनके सफल एवं सार्थक जीवन को भावभीनी विदाई दी थी। हज़ारों-लाखों टी॰ वी॰ प्रेमियों ने पत्रों द्वारा उनके प्रति आभार प्रदर्शित किया था। सिंथिया की ही नहीं, अनेक देखने-सुनने वालों की आँखें भी इन स्नेह-उद्‌गारों पर भर आई थीं।

वही लेडी सिंथिया ऑस्टिन शॉप-लिफ़्टिंग के मामले में पकड़ी जाएं–यह क्या चौंका देने वाली बात नहीं थी? और इससे भी अधिक चौंका देने वाली बात थी कि जिस चीज़ को उन्होंने 'उड़ाया' था, वह मात्र पचहत्तर पेंस की थी। शायद महँगी चीज़ होती तो बात कुछ समझ में आ जाती। अवकाश-प्राप्ति के बाद सीमित साधन, एक विशेष जीवन-स्तर की आदत–मन डोल गया होगा। बड़ों-बड़ों के डोल जाते हैं। तब बहस सामाजिक-आर्थिक-मनोवैज्ञानिक मुद्दों पर होती। कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिकों के प्रति सरकार के दायित्व की होती। मतलब, घटना गौण हो जाती और प्रबुद्ध समाज उसके मूल कारणों में जाने का प्रयास करता। यही बौद्धिकता का तक़ाज़ा है। पर अब...? अब समाज की प्रबुद्धता क्या करे? पचहत्तर पेंस की चीज़ ख़रीदने की औक़ात न हो–यह तो मानने वाली बात नहीं। पचहत्तर पेंस की चीज़ पर मन ऐसा डोल गया कि वश के बाहर हो गया–यह भी मानने वाली बात नहीं। तब...बौद्धिक समाज तर्क-वितर्क के घेरे में चक्कर काटने लगा।

शायद कहीं कोई ग़लतफ़हमी हो गई हो–किसी ने सुझाया। हो सकता है लेडी ऑस्टिन पैसा चुकाने का पूरा-पूरा इरादा रखती हों, पर बातचीत में भूल गई हों। 'क्या अकसर ऐसा नहीं हो जाता? क्या आपके साथ कभी ऐसा नहीं हुआ?' किसी दूसरे ने पूछा, 'यह भी कोई चुराने

की चीज़ है? उन्होंने सोचा होगा, सारा सामान पसंद करके इकट्ठा ही पैसा चुका देंगी। लेकिन कुछ सामान दूसरी दुकानों पर भी देख लेने के लालच में इतनी छोटी-सी एक चीज़ इस दुकान से पहले ही ख़रीदने की बात ध्यान से उतर गई होगी'–किसी तीसरे का पक्का ख़्याल था। 'ज़रूर किसी दुश्मन का काम है...पता नहीं, कितना पुराना हिसाब बराबर किया है...लेडी ऑस्टिन और चोरी? और वह भी पचहत्तर पेंस की? सोचने से भी पाप लगता है।'–किसी चौथे हितैषी ने फ़रमाया, 'मतलब राशि बड़ी होती, तो आप मान लेते? प्रश्न राशि के छोटे-बड़े होने का नहीं, चुराने या न चुराने का है। यह तो आप भी मानेंगे ही कि आदमी को कुमति होते क्या देर लगती है? हो सकता है, उन्होंने सोचा हो–पचहत्तर पेंस ही सही...मुफ़्त का माल जितने का भी हो, अच्छा होता है'–दार्शनिक अंदाज़ में किसी और ने पेश किया। 'हो सकता है, पैसा देने के बाद रसीद कहीं गिर गई हो...' किसी और का ख़्याल था। 'अभी कुछ ही दिन पहले अख़बार में आया था कि एक औरत ने दो पाउंड के टॉप्स चुरा लिए, जबकि उसके पर्स में एक हज़ार से भी ऊपर की नक़द राशि भरी पड़ी थी। कभी-कभी विकृत मानसिकता में ऐसा हो जाता है,' एक मनोवैज्ञानिक ने कहा।

मतलब यह कि बहुत से लोग परेशान रहे कि आखिर लेडी ऑस्टिन ने ऐसा किया तो क्यों किया और अगर दुकान वाले को ग़लतफ़हमी हुई तो कैसे?

लेडी ऑस्टिन भी कम परेशान नहीं थीं। सुबह से ही उनके यहाँ मित्रों-पड़ोसियों का ताँता लग गया। सब एक ही बात जानना चाहते थे कि वे अब क्या करेंगी? यह तो तय था कि उन्होंने ऐसा नहीं किया था, क्योंकि वे ऐसा छोटा काम कर ही नहीं सकती थीं। वे ही क्या, आने वालों में से कोई भी ऐसा छोटा काम नहीं कर सकता था। इसलिए यह ज़रूरी था कि आगे की कार्रवाई की योजना अच्छी तरह सोच-समझकर बना ली जाए। यह कहकर बात को छोड़ देना कि किसी ग़लतफ़हमी की वजह से ऐसा हो गया होगा तो काफ़ी नहीं था। आज इस छोटी-सी असावधानी की शिकार वह हुईं, कल कोई और भी हो सकता है। आख़िर वह सब भद्र समाज के भद्र नागरिक हैं। हर किसी ने जाते-जाते उन्हें बार-बार आश्वस्त

किया कि वह इस दुर्घटना में अपने को अकेला न समझें, वे सब उनके साथ हैं और इस मामले का निबटारा होने तक रहेंगे।

लेडी ऑस्टिन चुपचाप सिर झुकाए सबकी सलाह सुनती रहीं। प्रतिक्रिया के नाम पर किसी-किसी क्षण उनकी नज़रें ऊपर उठ जातीं या होंठ थरथराने लगते या बहुत हुआ तो बैठी-बैठी वह अपनी उँगलियाँ ही चटकाने लगतीं। अपने दस आवश्यक काम छोड़कर सांत्वना प्रगट करने एवं एकात्म्य दिखाने आए लोगों से कुछ कहा भी तो नहीं जा सकता। अपने को निर्दोष साबित करने के लिए अपनी सफ़ाई देना कितना अपमान-जनक हो सकता है, अपने प्रति अपने ही मन में कितनी ग्लानि भर देने वाला, यह भी तो उनसे नहीं बताया जा सकता। उनसे क्या, किसी से भी नहीं कहा जा सकता। यह तो उन कुछेक प्रसंगों में से था जिनसे संभव हो सके तो अपना मन स्वयं ही कतराकर निकल जाना चाहे।

मामला पुलिस में दर्ज हो चुका था। जल्दी ही सुनवाई भी हो गई। सबका ख़्याल था कि लेडी ऑस्टिन छूट जाएँगी। अदालत में उन्होंने अपने को निर्दोष घोषित करते हुए कहा था कि मोजों का वह जोड़ा उन्होंने पसंद किया ज़रूर, पर यह सोचकर वह और दूसरी चीज़ें देखती रहीं कि इकट्ठा ही सब पैसा चुका देंगी। अपनी दलील में उन्होंने मात्र इतना कहा कि चोरी ही करनी होती, तो वह उसे पर्स में छिपाकर लातीं–यह तो विस्मरण ही हो सकता है कि वह न जाने क्या सोचती हुईं, उसे हाथ में उठाए चली आईं। उनके वकील ने अपनी ज़ोरदार जिरह में साबित किया कि उनके आर्थिक-सामाजिक स्तर वाले व्यक्ति पर ऐसा आरोप लगाना कितना असंगत एवं अमानवीय था, कि वह इतनी छोटी-सी चीज़ के लिए इतना छोटा काम कभी सपने में भी नहीं कर सकती थीं, और यह कि अधिक से अधिक इसे मानवोचित भूल समझा जा सकता था, जिसके शिकार किसी-न-किसी समय न्यायाधीश महोदय स्वयं भी क्या पता हो जाएं। कुल मिलाकर बहस प्रभावशाली रही, जिसमें कानूनी मुद्दे से अधिक व्यक्तिगत अपील पर ज़ोर रहा, जिससे यह घटना मानवीय स्तर पर देखी जाए।

पर न्यायाधीश के निर्णय ने सबको अचंभे में डाल दिया। जिस किसी ने भी मुकदमे के बारे में पढ़ा-सुना था और जो भी लेडी ऑस्टिन

के विगत जीवन को जानते-समझते थे, उन सभी का पक्का विश्वास था कि वे बाइज़्ज़त छूट जाएंगी। पर अदालत के निर्णय के मुताबिक उन्हें पचहत्तर पाउंड का जुर्माना भरना पड़ा। उनका बयान नामंज़ूर कर दिया गया। एक पढ़ी-लिखी कर्त्तव्यनिष्ठ महिला होने के नाते उनसे उम्मीद की जाती थी कि वे सामान उठाते ही पास के काउंटर पर पैसा दे देंगी। लापरवाही रही हो या कुछ और, सज़ा उन्हें मिलेगी ही। उनके व्यक्तिगत जीवन को पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर दिया गया।

विडंबना यह कि फ़ैसले के ख़िलाफ़ कोई कुछ लिख या कह भी नहीं सकता, वरना अदालत की अवमानना का आरोप उसी पर लग जाए। तब भी कहने वालों ने दबी ज़बान में कहा ही, "क़ानून अंधा होता है, यह तो सुना था, पर न्याय कब से अंधा होने लगा, यह नहीं मालूम।"

लेकिन पत्रकार लोग कहाँ चुप रहने वाले थे, पहुँच गए लेडी ऑस्टिन के घर। फ़ैसले के ख़िलाफ़ कुछ नहीं लिख सकते, तो लेडी ऑस्टिन की प्रतिक्रिया तो लिख ही सकते हैं। उससे उन्हें कौन रोकेगा? लेडी ऑस्टिन के चर्चित व्यक्तित्व के कारण मामला काफ़ी उत्तेजक बन गया था और दर्शकों-पाठकों का एक विशाल समूह उसमें बेहद रुचि ले रहा था।

फ़ैसले से अधिक आश्चर्यचकित एवं निराश किया उन्हें लेडी ऑस्टिन की प्रतिक्रिया ने। नर्म किंतु दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा कि उन्हें अदालत के निर्णय के संबंध में कुछ नहीं कहना। न्यायाधीश ने विषय के सब पक्षों को सोच-समझकर ही निर्णय दिया होगा। अतः वह उन्हें मान्य है। पत्रकार अपना-सा मुँह लेकर लौट गए।

लेकिन टेलीविज़न वाले इतनी आसानी से चुप होने वाले नहीं थे। राष्ट्रीय प्रसारण में जब लेडी ऑस्टिन ने अपना वही जवाब दोहराया, तो प्रश्नकर्त्ता ने एक और सवाल दाग़ा, "तो क्या आप अभियोग स्वीकार करती हैं?"

"नहीं, हर्गिज़ नहीं," संयत एवं शांत स्वर में उन्होंने जवाब दिया, "अदालत में दिए गए अपने बयान के एक-एक शब्द को अब भी मैं सच समझती हूँ। पर फ़ैसले के ख़िलाफ़ मैं कुछ नहीं कहूँगी।"

"आप इसके विरुद्ध आवाज़ क्यों नहीं उठातीं? क्या इससे आपकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर कुप्रभाव नहीं पड़ेगा?"

"मैं तो एक अवकाश-प्राप्त जीवन बिता रही हूँ। मैं स्वयं नहीं जानती कि मेरी कोई विशेष सामाजिक प्रतिष्ठा है।"

प्रश्नकर्ता ने काफ़ी घुमा-फिराकर सवाल को बार-बार पूछा, तरह-तरह से उन्हें उकसाया, राष्ट्र के प्रति उनकी सेवाओं के संदर्भ में इस अभियोग को रखकर उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही, नितांत व्यक्तिगत स्तर पर, लेकिन एक शांत, स्निग्ध मुस्कान के साथ हर बार एक ही जवाब दर्शकों को सुनने को मिला।

हारकर भी लेडी ऑस्टिन मुकदमा जीत गईं। न्याय के प्रति समर्पण, संयम एवं विवेक से उन्होंने दर्शकों की अदालत के एक-एक सदस्य का दिल जीत लिया। भला ऐसी समझदार, सुलझी हुई स्त्री भी ऐसा कर सकती है? उनके प्रति हुए अन्याय से रोषभरे दिल लिए हुए लाखों लोगों ने उस रात टेलीविज़न बंद किए। कुछेक ने उसी रात उन्हें बधाई एवं सांत्वना का पत्र लिखा। बाक़ी अगले दिन लिखने का निश्चय करके सोए। उन्हें पता चलना ही चाहिए कि समाज की अदालत ने उन्हें बाइज़्ज़त बरी कर दिया है।

लगा, मामला ख़त्म हुआ। कम-से-कम इस समय तो। धीरे-धीरे लोगों का गुस्सा भी कम होने लगा। न्याय के हाथ भी तो बँधे होते हैं, क़ानून से बाहर चाहकर भी नहीं जा सकते। फिर, छोड़ देते, तो कहने वाले कह सकते थे व्यक्तिगत प्रभाव के कारण छोड़ दिया। शायद औरों पर बुरा असर पड़ता। फिर सबसे बड़ी बात लेडी ऑस्टिन पर पड़ने वाले प्रभाव की थी। उन्होंने पूरे मसले को जिस समझदारी एवं संयम से लिया, उससे उनके प्रति भी सब आश्वस्त हो गए। यह दुर्घटना उन पर कोई भी कुप्रभाव नहीं डाल सकी, मानसिक तौर पर, यह अहसास कम संतोष-जनक नहीं था। लेडी ऑस्टिन के बेटे को सबसे बड़ी चिंता इसी बात की थी। विदेश में समाचार देर से पहुँचा था। पर पता चलते ही उसने माँ को फ़ोन किया था, यह कहने के लिए कि वे घबराएँ नहीं। अच्छा वकील नियुक्त करें और ज़रूरत पड़े तो उसे भी बुलाने से हिचकिचाएँ

नहीं। माँ के जवाब ने उसे पूरी तरह आश्वस्त कर दिया था। यार-दोस्तों से उसने अपनी माँ की समझदारी की तारीफ़ भी की।

बेटी का भी फ़ोन आया था। पर उन्होंने उसे भी परेशान होने या आने से मना कर दिया था। माँ को शांत पाकर वह भी शांत हो गई।

सभी कुछ शांत हो चला था कि अगली ही सुबह लोगों को पता चला कि लेडी ऑस्टिन ने नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर ली।

"तो क्या...?" लोग चौंककर उठ बैठे।

बातें करते हुए लोगों के बीच में मनोवैज्ञानिक हेली ने अंचानक कहा, "अरे! सामाजिक प्रतिष्ठा के संबंध में खोद-खोदकर प्रश्न पूछने वाले आत्मसम्मान के विषय में तो उनसे कुछ भी पूछना भूल ही गए।" जैसे उसके भीतर का मनोविश्लेषक कुछ देर से जागा हो।

"मुझे तभी ताज्जुब हुआ था, जब सामाजिक प्रतिष्ठा पर इतनी बड़ी चोट लगने पर भी उनके चेहरे पर शिकन नहीं आई," किसी दूसरे हितैषी ने कहा।

"लेकिन..."

पर इस विषय पर सभी बूझे-अनबूझे प्रश्नों का उत्तर दे जाना लेडी ऑस्टिन नहीं भूलीं।

: 8 :

शेष यात्रा

आशा का स्कूल देखने का यह पहला मौक़ा था। "महीने के आख़िरी शुक्रवार को यहाँ पढ़ाई नहीं होती। उस दिन इन लड़कियों को छूट होती है–अपना मनचाहा करने की। कोई गाती है, कोई नाच दिखाती है, कोई अभिनय करती है तो कभी ये सब मिलकर अपने यहाँ का समूह नृत्य दिखाती हैं। हम चाहते हैं इस बार आप सब भी इस कार्यक्रम में आएँ। आपको भी तो पता होना चाहिए कि आपसे छुट्टी लेकर जाने के बाद ये लड़कियाँ क्या करती हैं, क्या सीखती हैं!"

अड़ोस-पड़ोस की जानी-अनजानी अनेक महिलाएँ शुक्रवार की दोपहर को आशा के स्कूल में जमा थीं। स्कूल मतलब एक बड़ा-सा बरामदा जिसमें दीवार से लगी कुर्सियों पर मेहमान-दर्शक और बीच में बिछी दरी पर सात-आठ लड़कियाँ बैठी थीं। दो-तीन अधेड़ उम्र की औरतें भी।

"और अब देखिए एक समूह नृत्य। इसे पेश कर रही हैं–झुनकी, मंगला, फूलमती, गेंदा, सुखिया और रतनी। ढोल बजा रहे हैं रतनी के भाई बिल्लू और मँजीरा बजाएंगे रामप्रसाद। तो लीजिए, मध्यप्रदेश का यह जाना-पहचाना लोक-नृत्य।" आशा की घोषणा के समाप्त होते ही दरवाज़े के पीछे प्रतीक्षा कर रही रंग-बिरंगी वेशभूषा में सजी-सजाई लड़कियाँ सामने आ गईं। ढोल की थाप के साथ ही घुंघुरूओं की आवाज़ तेज़ होती गई और फिर तो नृत्य और संगीत का ऐसा समा बँधा कि सब मंत्रमुग्ध रह गए। संगीत थमा तो वे छहों लड़कियाँ मुस्कुराती-सी, शर्माती-सी वापस दरवाज़े के पीछे भाग गईं और हम सब वर्तमान में लौटीं।

"अच्छा लगा?" मेरे पास बैठी आशा ने पूछा।

"बहुत अच्छा। मैं तो सोच भी नहीं सकती थी कि ये झुनकी इतना अच्छा नाचना जानती है। तुमने सिखाया होगा...।"

"अरे नहीं दीदी। मुझे तो ज़रा भी नाचना नहीं आता। ये सब तो इनके ख़ून में है, इनकी साँसों में। मैंने तो बस यह कोशिश की कि कुछ क्षण के लिए ये सब यह भूल जाएं कि ये नौकरानियाँ हैं और स्वाभाविक रूप से अपना मनचाहा जीवन जिएं।"

"हमारी रतनी तो पहचान में ही नहीं आ रही थी, कित्ती प्यारी लग रही थी मरी।"

क़रीब-क़रीब सभी महिलाएँ आशा को घेर कर बधाई देने लगीं–"इनकी तो जैसे काया पलट गई हो। सब तुम्हारा ही कमाल है।"

"ज़रा मिलवाओ तो इन सबसे," एक मोटी-सी महिला ने कहा।

आशा के इशारे पर कुछ दूरी पर खड़ी एक लड़की भीतर चली गई। कुछ ही देर में वे सब लड़कियाँ उसके पीछे-पीछे चली आईं। इतनी देर में उन्होंने कपड़े बदल लिए थे।

"अरी सुखिया, तू तो बड़ा अच्छा नाचती है री। तूने पहले क्यों नहीं बताया?"

"......"

"कहाँ सीखा नाचना तुम लोगों ने?"

"घर में ही सीखा।"

"घर कहाँ है?"

"कुटमा गाँव में," झुनकी और रतनी ने लगभग साथ ही साथ कहा।

"और ये कुटमा गाँव कहाँ है?"

"रायगढ़ के पास," जवाब आशा ने दिया। प्रश्नों का सिलसिला भी उसने यह कहकर समाप्त कर दिया कि इन लड़कियों के जाने का समय हो गया है। देर हो जाने पर परेशानी होगी।

"अरे हाँ! बातचीत में समय का तो ध्यान ही नहीं रहा। चाय-नाश्ते का टाइम हो रहा है। सुखिया, ले ये थैला पकड़ ले।"

"चाय पीकर जाइएगा," आशा ने कहा।

"फिर कभी। बबलू के लौटने का टाइम हो रहा है और घर में ताला लगा है," श्रीमती बत्रा ने घड़ी देखते हुए कहा।

कुछ ही देर में बरामदा ख़ाली हो गया। बचे बस मैं और आशा।

"मैं तो भई तुम्हारी चाय पीकर ही जाऊँगी। मुझे लौटने की कोई जल्दी नहीं है। घर में माँजी हैं। बाकी झुनकी सँभाल लेगी।"

"अरे वाह! दिल ख़ुश कर दिया दीदी आपने। मैं बस अभी दो मिनट में आई। इतने आप ये मैगज़ींस देखें।" आशा आज बहुत प्रसन्न थी।

आशा से पहली बार मिली थी तो अच्छा लगा था, अजीब भी। उसने बताया था कि वह घरों में काम करने वाली लड़कियों और औरतों के लिए सप्ताह में दो दिन क्लास लगाती है और अगर मैं अपनी आया को दिन में दो घंटे के लिए वहाँ भेज दूँ तो उसे अच्छा लगेगा। "केवल दो दिन। बुधवार और शुक्रवार," उसने स्पष्ट किया था।

"क्लास? झुनकी के लिए?"

"हाँ! दूसरे घरों से भी कई लड़कियाँ आती हैं।"

"क्या पढ़ेंगी ये? क्या सिखाओगी इन्हें?"

"कुछ भी। जो भी ये सीखना चाहें।"

"फिर भी। तुमने भी तो कुछ सोचा होगा?"

"मैं तो इन्हें मात्र अक्षर-ज्ञान देना चाहती हूँ।"

"अक्षर-ज्ञान?"

"हाँ, जिससे ये अपने हस्ताक्षर करना सीख सकें। बस का नंबर पढ़ सकें। बाज़ार से बिना ठगे हुए सौदा ला सकें। डिब्बे पर किसी मुफ़्त चीज़ के मिलने की घोषणा हो तो उसे जान सकें और दुकानदार से माँग सकें। घर से चिट्ठी आए तो उसे लेकर यहाँ-वहाँ दौड़ने की बजाय ख़ुद पढ़कर समझ सकें। ख़ुद उसका जवाब लिख सकें। कुल मिलाकर एक सम्मान की ज़िंदगी जी सकें।"

"बात तो तुमने अच्छी सोची है। इतना सब इन्हें आ जाए तो हमें भी कितना आराम हो जाए। हमारे पीछे किसी का फ़ोन आ जाए तो ये झुनकी न तो नाम लिख पाती है और न नंबर।"

"केवल दो घंटे। सप्ताह में दो दिन। बुधवार और शुक्रवार," आशा ने दोहराया था।

मैंने झुनकी को भेजना स्वीकार कर लिया था। मना करने का कोई कारण नहीं सोच पाई। आशा से यह तो नहीं कह सकती थी कि बात

दो दिन या दो घंटे की नहीं थी। बात झुनकी के किसी और का काम पकड़ लेने की संभावना की थी। बड़े-बड़े लोग दूसरों के नौकरों पर कैसे झपटते हैं किसी से छुपा है क्या? पर मन के इस चोर को आशा के सामने कैसे खड़ा कर देती? डरते-डरते हामी भर ली थी।

लेकिन आज...आज उनके बीच आकर लगा कि मैंने आशा की बात मानकर एक अच्छे काम में सहयोग ही दिया था। आशा चाय लेकर आ गई थी और मैं आशा का मुँह देखे जा रही थी। इस दुबले-पतले शरीर में इतना संकल्प! इतना हौसला!

"इस अनोखे स्कूल की प्रेरणा तुम्हें कहाँ से मिली?"

"यह तो बहुत लंबी कहानी है दीदी। कहाँ से शुरू करूँ?"

"शुरू से ही शुरू करो आशा।"

× × ×

इतनी बड़ी पार्टी आशा ने पहले कभी नहीं देखी थी। इतनी सारी औरतें–सब अच्छे-अच्छे कपड़े पहने कभी आपस में हँसतीं, कभी ज़ोर-ज़ोर से बातें करतीं। आशा को रह-रहकर डर लगता कि वो कहीं खो न जाए। और ये सोचते ही दादी की उँगली पर उसकी पकड़ और कस जाती। उसने देखा कि ऊपर दूर-दूर तक डोरियाँ बाँधकर रंग-बिरंगे गुब्बारे और झंडियाँ लटकाई गई थीं। उसका मन हुआ कि वह एक गुब्बारा तोड़ ले। मगर उसके हाथ बहुत छोटे थे और गुब्बारा उसकी पहुँच से बहुत दूर।

जब नहीं रहा गया तो बातों में व्यस्त दादी का हाथ हिलाते हुए आशा बोली–"मुझे गुब्बारा लेना है।"

"अभी नहीं, चलो पहले भैया को देख लें। फिर मिठाई खाकर सब लोग चले जाएंगे, तब एक नहीं, दो गुब्बारे ले लेना," कहती हुई दादी भीतर की ओर चल दीं।

छोटे से बच्चे को आशा ने देखा तो गुब्बारा भूल गई। उसे लगा कि जमना चाची की गोद में सुंदर-सा, प्यारा-सा गुब्बारा रखा हुआ है। और चाची भी कितनी सुंदर लग रही थीं–सजी-सजाई, नई दुल्हन-सी। उन्होंने हँसते हुए दादी के पाँव छुए। दादी ने उन्हें आठ पूतों की माँ होने का आशीर्वाद दिया। "ताईजी, आप कब मिठाई खिला रही हैं?" जमना चाची ने दादी से पूछा।

दादी ने आह भरते हुए कहा–"सब भगवान पर है। देखो, अब की तो मैं मनसा देवी के दर्शन भी करा लाई। संतोषी माता के सोलह बरत भी पूरे कर लिए हैं। अब की तो भगवान इच्छा पूरी करें तो जित्ती चाहे मिठाई खा लेना।"

ये बातें कुछ आशा की समझ में नहीं आईं। वह अचानक पूछ बैठी--"चाची, मैं भैया को गोद ले लूँ?"

"नहीं, अभी नहीं', दादी ने टोका, "अभी भैया बहुत छोटा है। तू जा थोड़ी देर मालती के साथ खेल आ।"

मालती यानी जमना चाची की बड़ी बेटी।

आशा मालती का हाथ पकड़े वहाँ जा पहुँची जहाँ सोहर गाए जा रहे थे। पास ही में लड़कियाँ नाच रही थीं। हँसी-ठिठोली के बीच कभी कोई लड़की नाचने लगती थी तो कभी कोई बुढ़िया। उसने मालती से कहा–"चलो, हम भी नाचें।"

मालती बोली–"तू तो अब आई है। मैं तो दो घंटे से नाच रही हूँ। थक भी गई नाचते-नाचते। चल, मिठाई खाएँ।" वह आशा को खींचती-सी मिठाई की मेज़ के पास ले गई।

लौटते समय आशा ने दादी से पूछा था–"हमारे घर भैया कब आएगा, दादी?"

"जल्दी ही आएगा बिट्टो।"

"हमारे घर भी ऐसी ही पार्टी होगी? ऐसा ही नाच-गाना?"

"हाँ, हाँ, इससे भी अच्छा। भैया को आने तो दे, सारी बिरादरी में लड्डू बँटवाऊँगी, लड्डू।"

"सच, दादी?"

"हाँ और क्या?"

"मेरे होने पर भी लड्डू बँटे थे दादी? निशा के होने पर भी?"

"तेरे होने पर? निशा के होने पर?" दादी हँसने लगी थीं–"लड़कियों के होने पर लड्डू थोड़े बँटते हैं पगली।"

"लड़कियों के होने पर लड्डू क्यों नहीं बँटते, दादी?"

"अब नहीं बँटते तो नहीं बँटते। ये लड़की तो भेजा ही चाट जाती है।"

"लड़कियों के होने पर लड्डू क्यों नहीं बँटते, दीदी?" आशा मुझसे पूछ रही थी।

"पता नहीं आशा। ये तो मैंने कभी सोचा ही नहीं।"

"यही तो...कितना कुछ है, जिसके बारे में हमने कभी कुछ सोचा ही नहीं।"

मेरे पास चुप हो जाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था।

× × ×

अस्पताल से लौटकर दादी आईं तो बड़ी उदास थीं। आशा ने दौड़ते हुए पूछा–"दादी, भैया आ गया? कैसा है भैया? गुब्बारे जैसा है न!"

"चल हट। बड़ी आई भैया वाली।" उसे परे खिसकाती हुई दादी आगे गईं–"हे मेरे परमात्मा! कौन-सी कमी रह गई हमारी प्रार्थना में?"

दादी थकी-थकी सी, पैर घसीटती, बाबूजी के पास गईं। कुछ देर तक उनके बाल सहलाती रहीं। बाबूजी में कहीं कोई हलचल नहीं हुई। वे गोद में चुपचाप सोई निशा को देखते रहे। अचानक जैसे उन्हें होश आया हो–निशा को दादी की गोद में थमाकर बोले–"इसे तुम लो अम्माँ। मैं ज़रा घूमकर आता हूँ।"

दादी ने निशा को लेते हुए धीरे से कहा–"उसके घर देर है, अंधेर नहीं। वो बेटा भी देगा। मेरी प्रार्थना बिल्कुल बेकार थोड़े ही जाएगी।"

बाबूजी चुपचाप गर्दन झुकाए बाहर की ओर चले गए। ये सब कुछ आशा की समझ से परे था। लेकिन एक प्रश्न था जो उसके मन में रह-रहकर उमड़ रहा था–वह फिर पूछ बैठी– "भैया आ गया दादी? घर कब आएगा?"

"अरे तेरी ऐसी किस्मत कहाँ, बिट्टो? वहाँ तो एक और भवानी आ टपकी।"

× × ×

बाबूजी के पास दो लोग पहले से ही बैठे थे। जब आशा पानी के गिलास लेकर कमरे में पहुंची तो विष्णु चाचा ज़ोर-ज़ोर से बोलते हुए आ पहुँचे–"अरे बधाई हो, बधाई हो। सुना है लक्ष्मी आई है।"

"अरे कैसी बधाई यार! दो-दो लड़कियाँ तो पहले से ही बैठी हैं। तुम लक्ष्मी कहते हो? ये कहो कि कम-से-कम लाख डेढ़ लाख की

डिग्री और आ गई। हम तो भाई बिक भी जाएंगे तो भी तीन-तीन बेटियों की शादी नहीं करा सकते।"

"अरे क्या बात करते हो भाई साहब?" विष्णु चाचा बोले, "भगवान सबको अपना भाग देकर भेजता है।"

"छोड़ो भी विष्णु बाबू। सब कहने की बातें हैं," पास बैठे मुरली चाचा बोल पड़े।

"ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ तो लड़कियों को भगवान का दर्जा दिया गया है।"

"सो कैसे?"

"विद्या की देवी सरस्वती। धन-संपदा की देवी लक्ष्मी। शक्ति की देवी दुर्गा...।"

"अरे उससे क्या होता है? कौन मानता है ये सब?"

"मानता ही नहीं, पूजता भी है। और जो नहीं मानता वह उसकी ग़लती।"

"बस करो विष्णु बाबू। जले पे नमक मत छिड़को। तुमको भगवान ने चार बेटे दे दिए हैं, तुम क्या समझोगे? जाके पाँव न फटे बिवाई...।"

पानी देकर आशा लौटी तो दरवाज़े के पास ही खड़ी रह गई। सब कुछ उसे बड़ा रहस्यमय-सा लग रहा था—समझ से परे, पर डरावना-सा।

आशा स्कूल से लौटी तो अम्माँ घर पहुँच चुकी थीं। अम्माँ से मिलने से पहले ही वह दौड़कर पालने के पास पहुँची—"अले ले मेला भैया। मेला प्याला भैया। अम्माँ मैं भैया को गोद में ले लूँ?"

अम्माँ की ओर देखा तो उसे उनका चेहरा अनजाना-सा लगा। थका-थका और उदास। पहले तो ऐसा नहीं था। वो अनायास ही पूछ बैठी—"अम्माँ तुम्हें क्या हो गया? सिर में दर्द है क्या?"

दो क्षण उसकी ओर देखती हुई अम्माँ ने उसे खींचकर सीने से लगा लिया और बिलख पड़ीं।

तभी पीछे से बाबूजी आ गए—"ये क्या पागलपन है? अब जो हो गया, सो हो गया। जो क़िस्मत में लिखा होता है वो तो हो के ही रहता है।"

तभी निशा के रोने की आवाज़ सुनाई दी। वह पैर पीटते हुए ज़िद किए जा रही थी–"मुझे आइसक्रीम खानी है।"

एक झटके के साथ बाबूजी पलटे और ज़ोर से डपटते हुए निशा से बोले–"चुप! ख़बरदार जो मुँह से आवाज़ निकाली। एक शब्द भी मुँह से निकला तो उठा के पटक दूँगा।" निशा एकदम सहमकर रह गई। "उँह! आइसक्रीम खाएगी," बाबूजी बुदबुदाते हुए बाहर चले गए।

नहीं, सिर्फ निशा ही नहीं सहमी थी, आशा को लगा, सारा घर सहम गया था। यह सब क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? नए-नए कुछ ऐसे प्रश्न उमड़ते चले आ रहे थे जिनका उसके पास कोई उत्तर नहीं था। उसका मन हो रहा था कि वह किसी से पूछे कि हमारे यहाँ पार्टी कब होगी, मिठाई कब बँटेगी, गुब्बारे कब टँगेंगे? लेकिन एक अनजाना-सा डर था जो कुछ भी पूछने से रोक रहा था।

तब से प्रश्नों ने जो उसे घेरा तो घेरते ही चले गए। आए दिन एक नया प्रश्न उसे मथने लगता। जमना चाची के यहाँ दीपक का जन्मदिन धूमधाम से मनाया जाता। लेकिन मालती के लिए बहुत हुआ तो एक नई फ़्रॉक आ करके रह गई। न टीका, न आरती, न पूजा, न ढोलक और न ही किसी पड़ोस वाले को निमंत्रण। मालती ही बस चुपके से खिसियाती सी उसे बता जाती थी–"आज मेरा जन्मदिन है लेकिन हमारे यहाँ लड़कियों का जन्मदिन मनाया नहीं जाता न!"

मालती का ही क्या, आशा का जन्मदिन ही कब मनाया गया? निशा का भी नहीं। कभी-कभी उसे लगता था कि गुड्डी की सालगिरह पर अम्माँ-बाबूजी छुप-छुपकर रोते होंगे। और दादी दिन-प्रतिदिन निढाल होते जाने के बावजूद गाती ही रहती थीं–"कब सुध लोगे हे गिरधारी..." धीरे-धीरे आशा समझने लगी थी कि दादी का संकेत किधर है।

एक दिन वह दादी से पूछ बैठी–"दादी, भगवान जी मुझे लड़का नहीं बना सकते? मैं रोज़ पूजा किया करूँ तो क्या मैं लड़का बन जाऊँगी?"

दादी तो आह भर के रह गईं पर विष्णु चाचा ने एक दिन कहा था–"भगवान तो नहीं बना सकते लेकिन हमारी आशा बिटिया चाहे तो लड़का बन सकती है।"

"वो कैसे चाचा?"

"ख़ूब पढ़कर। ख़ूब मेहनत करके। बस और कैसे?"

"लेकिन चाचा..."

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं," चाचा ने बीच में ही बात काटी– "लेकिन लगाया तो सब खेल ख़त्म। फिर कुछ नहीं हो सकता।"

अचानक उसे लगा कि उसे एक नई राह दिखाई दी है। लंबी, बीहड़ परंतु ठीक उधर जाती हुई जिधर से उजली सुनहरी किरणें फूटती रहती हैं।

बी॰ ए॰ में पढ़ रही थी तभी आशा के विवाह की बात भी ज़ोर पकड़ रही थी। दादी चाहती थीं उनके जीते जी आशा के हाथ पीले हो जाएं। बाबूजी रह-रहकर कहते–"एक से छुट्टी पाऊँ तो दूसरी की सोचूँ। अब रिटायर होने में कै दिन बचे हैं?" लेकिन उसे लगता था कि विष्णु चाचा की बात ही शायद ठीक है। उस दिन जो राह देखकर उसने यात्रा प्रारंभ की थी वह अभी शेष है।

कड़े विरोध के बाद बी॰ ए॰ पास करके उसने एम॰ ए॰ में प्रवेश लिया। और फिर रात-दिन एक करके कड़ी मेहनत के बाद प्रथम श्रेणी ही नहीं, प्रथम स्थान भी प्राप्त कर लिया था। उस दिन घर में कई लोग बधाई देने आए थे। मिठाई बँटी थी। उसकी याद में शायद वह पहला अवसर था जब उसके घर में मिठाई बँटी। सब लोग ख़ुश थे। उसको लगा उसका जन्मदिन मनाया जा रहा है। नहीं, उसका जन्म हुआ है। उसके नए जन्म पर विष्णु चाचा भी आए। वह अपने को रोक नहीं पाई। बढ़कर विष्णु चाचा के पैर छू लिए। उन्होंने उसे उठाकर सीने से लगाते हुए कहा था–"देखा, हमारी आशा बिटिया बेटा बन गई। बधाई हो भाई साहब, बधाई हो। आपको बेटा मुबारक!" बाबूजी भी उसका सिर थपथपाते हुए अपने आँसू पोंछ रहे थे।

"फिर कॉलेज में लेक्चरर बनने के बाद मैंने सोचा कि हमारी बच्चियों में अगर कहीं कोई हीन ग्रंथि है, जहाँ कहीं कोई हीन ग्रंथि है, उसको कुछ हद तक भी दूर कर सकूँ तो करूँ। गेंदा को देखा था ना आपने। वही बड़ी-बड़ी आँखों वाली। संयोग ही था कि घर के कामकाज के लिए वह मिल गई। और उसी के माध्यम से मेरा परिचय हुआ उसके

जैसी कई दूसरी लड़कियों से जो अपने घर से दूर, इसी शहर में किसी न किसी घर में काम करती हैं। सप्ताह में दो दिन इन्हें छुट्टी दिलवाकर यहाँ लाने में मुझे कठिनाई तो बहुत हुई थी परंतु अब जब इन्हें नाचते-गाते देखती हूं, हँसते-खिलखिलाते देखती हूँ, अपने पत्र स्वयं पढ़ते-लिखते देखती हूँ तो मुझे लगता है मेरा सारा श्रम सार्थक हुआ। चार-छः साल में जब ये अपने घर लौटकर जाएंगी, शादी-ब्याह करके घर बसाएंगी तो मुझे विश्वास है कि ये अच्छी पत्नी बनेंगी, अच्छी माँ बनेंगी और अपने समाज को कुछ और अच्छा बनाएंगी। मैं तो बस यही चाहती हूँ कि अपनी मानसिक घुटन छोड़कर ये सम्मान का जीवन बिता सकें।"

तभी शायद माँ ने पीछे आकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा-"बेटी, इन सबका ब्याह तो तू करा देगी लेकिन अपने लिए कब सोचेगी?"

मैंने कहा, "माँ जी बात तो ठीक कह रही हैं।"

"यह तो नहीं कहूँगी कि मैंने अपने बारे में कुछ सोचा ही नहीं। जब भी कोई सम्मान के साथ मुझे अपनाने वाला मिल जाएगा तो मैं माँ से जाकर खुद कह दूँगी। लेकिन अभी तो लगता है जिस यात्रा पर मैं निकली थी उस पर अपनी इन छोटी-छोटी बहनों को लेकर कुछ दूर और चलूँ।" आशा की आवाज़ में दृढ़ संकल्प था। उसके चेहरे का आत्मविश्वास देखकर मुझे लग रहा था कि उसकी बनाई हुई यह राह कभी सूनी नहीं रहेगी।

: 9 :

उपलब्धि

यों समाचार किसी भी तरह ऐसा नहीं था कि उसके बारे में बार-बार सोचा जाए। देखा जाए तो पूरा अख़बार उससे कहीं अधिक दुखदायी समाचारों से भरा पड़ा था। पहले ही पृष्ठ पर चुनाव-अभियान के सिलसिले में दो राजनैतिक गुटों के हिंसक टकराव और कई लोगों की मृत्यु का समाचार था। शीत लहर ने देश के कई हिस्सों में लोगों की जानें ले ली थीं। एक बस और ट्रेन की टक्कर में स्कूल के कई बच्चे मारे गए थे। फिर पैंतीस वर्ष की एक अविवाहित युवती का अकेलेपन से ऊबकर आत्महत्या का समाचार ही मुझे क्यों बार-बार परेशान कर रहा था-स्वयं मेरे लिए समझ पाना कठिन था। अब तो इस तरह के समाचारों को पढ़ते ही भूल जाने की आदत-सी हो चुकी है, बल्कि कभी-कभी तो उकताहट-सी महसूस होती है-हर सुबह वही-वही समाचार। तारीख़ हटा दो तो पता ही न चले कि अख़बार आज का है या चार दिन पुराना। फिर मरने वाली की उम्र भी कोई ऐसी नहीं थी कि उस पर इतना कुछ सोचा जाए। पैंतीस वर्ष...बहुत ज़्यादा नहीं तो बहुत कम भी नहीं। अविवाहित थी तो पीछे बाल-बच्चे भी नहीं छोड़े जिनकी चिंता की जाए। माँ-बाप होंगे तो कुछ दिन आँसू बहा लेंगे, फिर चुप हो जाएंगे। क्या पता माँ-बाप हों ही नहीं? बहन के मरने पर भाई दुखी होते हैं क्या? उस पर अविवाहित बहन। अच्छा, अगर कल मुझे कुछ हो जाए तो समीर दुखी होगा क्या? हो शायद, थोड़ी देर के लिए। और राधा? दिखावे के लिए तो वह ज़रूर काफी रोना-धोना करेगी। दिखावा करने में उस्ताद है मेरी भाभी। पर मुझे मालूम है कि मन-ही-मन दोनों राहत महसूस करेंगे-चलो छुट्टी हुई, पाप कटा। और नीरा?

क्या पता कितने दिनों बाद उसे ख़बर मिले।

नीरा दस वर्ष की थी जब पापा हम लोगों को छोड़ गए थे। समीर तब दसवीं की परीक्षा देने की तैयारी कर रहा था। मेरा बी॰ ए॰ फ़ाइनल का साल था। परीक्षा में बस दो महीने शेष थे। उस पर यह हादसा। पापा के स्कूटर को टक्कर मारी किस तरह की गाड़ी ने थी यह भी अनुमान भर ही लगा पाए थे हम लोग। मारने वाले को पकड़ पाने का तो प्रश्न ही नहीं था। पापा के बॉस ने दया करके मुझे अपने ही दफ़्तर में नौकरी न दे दी होती तो पता नहीं हम लोग क्या करते! कैसे दिन थे वे भी। आज भी सोचती हूँ तो घबराहट-सी होती है। दिनभर दफ़्तर का नया-नया काम, रात को दो महीने बाद होने वाली परीक्षा की तैयारी! उस पर गुमसुम बनी माँ को सँभालना, घर की देखभाल करना, समीर को समय से पढ़ने के लिए बैठाना, नीरा का होमवर्क करवाना...क्या सचमुच इतना कुछ किया था मैंने? इतना सब कुछ कर पाई थी मैं?

देखते-ही-देखते मैं घर की मुखिया बन गई। जो भी करना होता, मुझसे पूछकर किया जाता। जो कुछ भी लाना होता मुझसे पूछकर लाया जाता। समीर आगे क्या पढ़ेगा, कौनसे विषय पढ़ेगा–दीदी तय करेगी। नीरा किस कॉलेज में जाएगी, क्या करेगी–दीदी ही तय करेगी। पता नहीं इतना सब करने की शक्ति मुझे कहाँ से मिली। मैं तो स्वयं अपने बारे में ही कोई निर्णय नहीं ले पाती थी, कैसे सीख गई सबके निर्णय लेना! कभी समीर के लिए–उसके साथ मिलकर रास्ता टटोलना तो कभी नीरा को दुलार-पुचकारकर धीरज बँधाना। और कभी किसी-न-किसी बहाने माँ से बातें करने बैठ जाना कि वे कुछ देर के लिए अपना दुःख भूल जाएं। कभी-कभी अड़ोस-पड़ोस के या रिश्ते-नाते के बड़े-बूढ़े सिर पर हाथ फेर देते थे या पीठ थपथपा देते थे तो लगता था शायद मैं कुछ ठीक कर रही हूँ। शायद मुझे यही सब कुछ करते रहना चाहिए–पूरी लगन के साथ।

समय बीतने के साथ-साथ एक संतुलन-सा बनने लगा था। उस संतुलन को बनाए रखने के लिए मैंने अपने आपको बड़ी प्रसन्नता के साथ बाँट दिया–दफ़्तर में, माँ में, समीर में, नीरा में। दफ़्तर में कभी शुक्ला जी पीठ थपथापते तो लगता मैं नीरा के लिए, समीर के लिए शायद कुछ और कर सकूँ–उन्हें अधिक पढ़ने के लिए, सुख से रहने के

लिए कुछ और सुविधाएं प्रदान कर सकूँ। समीर कोई मॅडल लेकर आता या नीरा अच्छे अंक पाती तो मैं फूली न समाती। माँ कभी गोद में मेरा सिर रखकर सहलातीं और मुझसे कुछ आराम करने को कहतीं तो मुझे लगता कि थकान कैसी? मुझमें तो ऊर्जा ही ऊर्जा भरी है–मुझे तो अभी बहुत कुछ करना है।

शायद लोग सच कहते हैं कि समय पंख लगाकर उड़ जाता है। ज़रूर उड़ता होगा। बस मैं ही थी जो अपनी व्यस्तता के मारे उसे उड़ता या दौड़ता नहीं देख पाई, लेकिन इस सब व्यस्तता के बावजूद एक बसंती झोंके ने मेरे दरवाज़े पर दस्तक दी थी। अब याद आता है, भले ही क्षणभर को, वह झोंका बहुत सुखद लगा था। पर साथ ही यह भी लगा था कि मेरे पास समय कहाँ है! मैंने उससे फिर कभी आने को कह दिया। साँकल लगाने से पहले उसने मेरा हाथ पकड़ा था और बड़ी अननुय-विनय के साथ मुझसे कुछ कहना चाहा था। उस झोंके ने ही नहीं, मेरे मन ने भी मुझे समझाना चाहा था पर मेरे पास सचमुच ही समय नहीं था। मैंने भी उसी तरह मनुहार कर अपनी बात दोहरा दी थी– फिर कभी आना।

फिर कभी...यानी कब? यह तो न मैंने सोचा और न ही उसे बताया। बस एक दृढ़ निश्चय के साथ अपने मन के कपाट बंद कर लिए। मुझे डर भी तो लगा था कि कहीं ऐसा न हो कि अनजाने ही कोई खिड़की खुली रह जाए और कोई गर्म हवा का झोंका आकर मेरी छोटी-सी बग़िया को झुलसा दें सच! जब भी समीर को और नीरा को देखती तो वे मुझे फूल जैसे सुंदर ही लगते–फूल जैसे प्यारे, फूल जैसे कोमल। कौन था उनका मेरे सिवा?

कहते हैं कि जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही होती है कि व्यक्ति जो करना चाहे वह कर ले। मैंने समीर और नीरा को उनके अपने पैरों पर खड़ा करना चाहा था। उन्हें एक सुखमय जीवन देना चाहा था। मैंने वह कर दिया। इस अर्थ में मेरे जीवन को उसकी उपलब्धि मिल गई–सबसे बड़ी उपलब्धि। लेकिन मुझे किसी ने कभी यह नहीं बताया कि उपलब्धि के बाद जीवन में फिर रह क्या जाता है। समीर अपने पैरों पर खड़ा होकर राधा के साथ जब कहीं दूर जाने लगा तो मैं उसे रोक

नहीं पाई। और नीरा! नीरा को तो दूर जाना ही था। कुछ तो समाज के नियम और कुछ उसकी उम्र का तकाज़ा। फिर उन्होंने अपने मन-आँगन से वसंत को निष्कासित भी तो नहीं किया था। अचानक मुझे लगा कि मेरी उपलब्धि ने मुझे बहुत अकेला कर दिया। जाने क्या हो गया समय को--वह उड़ना भूल गया था या अपने पंख किसी को दे आया था? मैं अक्सर यह सोचने बैठ जाती थी। अनजाने ही मेरा मन कान बनकर किसी दस्तक की प्रतीक्षा करने लगता था। समय के चक्र में बँधकर वसंती हवा के झोंके कई बार आए परंतु मेरा द्वार खटखटाए बिना दूर ही दूर से निकल गए।

इतने समाचारों के बीच 35 वर्षीय निर्मला भाटिया की आत्महत्या ने मुझे दूर अतीत तक दौड़ा दिया। क्या आवश्यकता थी इस समाचार की? लगता है जैसे मेरी साँस फूल रही है! मैं भी तो लगभग पैंतीस साल की हूँ। यह अनजाने ही इस समाचार ने मुझे बड़ी बेरहमी से याद दिलाया है कि मैं भी जल्दी ही पैंतीस पूरे करने जा रही हूँ। निर्मला भाटिया! मेरा मन हो रहा है कि मैं निर्मला भाटिया से मिलकर पूछूँ कि तुम इतनी अकेली क्यों हो गई थीं और हो गई थीं तो मेरे पास क्यों न चली आईं और तुम्हें पैंतीस साल का ही क्यों होना था।

अचानक मैं घबरा उठी और उठकर सारे खिड़की दरवाज़े खोल दिए–कौन जाने कब कोई भूला-भटका ताज़ी हवा का झोंका आकर मुझे इस घुटन से मुक्ति दिला दे।

: 10 :

गिद्ध

वह अचानक ही सामने पड़ गई थी। बहुत दिनों से उसके यहाँ जाकर मिलने की इच्छा रहने के बावजूद उसका अचानक यहाँ मिल जाना अजीब-सा लगा। मैं जानती थी देखने न आने का उलाहना वह नहीं देगी। मैं यह भी जानती थी कि मेरे पास कहने को भी कुछ नहीं था। फिर भी शायद औपचारिकता भर के लिए कह गई–"क्या बात है, बहुत ख़ुश दिखाई दे रही हो?" वह भला किस बात पर ख़ुश हो सकती है यह न उससे छुपा था न मुझसे। वह भी हँसती हुई बोली–"तुम्हें इतने दिन बाद देखा–ख़ुश होने की बात नहीं है?" मैं भी हँस पड़ी और बातों का सिलसिला चल पड़ा।

बस एक बात जिससे हम दोनों ही कतराते रहे वह थी उसकी बीमारी। यों आम बीमारी की चर्चा करना कोई मुश्किल काम नहीं। बात से बात निकलती जाती है, मरीज़ और मिज़ाजपुर्सी करने वाले में विभिन्न बीमारियों, विभिन्न अस्पतालों और तरह-तरह के मरीज़ों से संबंधित अपने-अपने अनुभव सुनाने की एक ऐसी होड़-सी लग जाती है कि कुछेक घंटों के लिए तो ज़िददी से ज़िददी दर्द भी अपने कमरे, अपने पलंग और यहाँ तक कि अपने स्वामी को भी नितांत अजनबी पा बाहर भाग जाता है। और कुछ नहीं तो दवाइयों पर ही बात चल जाएगी। असली-नकली दवाइयों की चर्चा आज के गिरे हुए इंसान की ख़ुदगर्ज़ी, देश के ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त भ्रष्टाचार और बेइमानी और सरकार की विफलताओं के कच्चे चिट्ठे पर पहुँचकर ही दम लेगी। फिर बारी आएगी डॉक्टरों की–पुराने ज़माने के नेकदिल ख़ुदा के बंदों की और आजकल के लालची दरिंदों और शैतान नौसिखियों की जो शफ़ा के नाम पर लोगों की जान से खेलने में भी नहीं हिचकते।

पर इस लचीले विषय को तभी तक खींचा जा सकता है जब बीमारी एक शरीफ़ मेहमान की तरह चार-छः दिन में चली जाने वाली हो। मिज़ाजपुर्सी करने वाला तहे दिल से बीमार के स्वास्थ्य-लाभ की कामना करे और बीमार उतने ही आत्मीय उत्साह से उसे स्वीकारे। आस्था से मुक्त सांत्वना अर्थ से मुक्त शब्द के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं।

पर जानलेवा बीमारी के शिकार को क्या कहकर सांत्वना दी जाए? किस तरह कहा जाए कि घबराने की कोई बात नहीं है—एक न एक दिन तो दुनिया से सभी को कूच करना ही है, कोई पहले गया, कोई बाद में। पैंतीस साल की महिला को किन शब्दों में यह गहन मर्म की बात समझाई जाए? और वह भी तब जब वह स्वयं भवितव्यता से पूरी तरह परिचित होने के साथ-साथ यह भी जानती हो कि मित्र-परिचित भी स्थिति की भयावह गंभीरता से पूरी तरह भिज्ञ हैं? असमय ही नोचकर फेंक दिए गए पुष्प को जीवमात्र की क्षणभंगुरता का बोध शायद बहला भी दे, पर सुनियोजित जीवन की आश्वस्ति से झूमते मुस्कुराते डाल पर तने फूल वह गंध, वह बयार कहाँ से लाएंगे जो नीचे पड़े भग्न तन-मन को सहला दे?

× × ×

मीनाक्षी से मेरी मित्रता अल्हड़ वय के नित नूतन अनुभवों-उन्मादों की जीवनगाथा थी। वय:संधि के वे वसंती पल-छिन जब इंद्रधनुषी बौर आसमान में ही नहीं, धरती के कोने-कोने में भी आई लगती। इमली और कटारों से दाँत किटकिटा जाते पर सतरंगी स्वप्नों के आदान-प्रदान का सिलसिला ख़त्म होने में न आता। प्रातःकाल की सद्यःस्नाता दूब, मदमस्त पवन से अठखेलियाँ करतीं कली की अलसाई पंखुरियाँ, निष्ठुर प्रणयी अंक से छूटने को मचलता भँवरा, झील के शुभ्र नील जल में उतराता-लहराता दिवाकर—लगता सब कुछ पहली ही बार हो रहा है और वह भी बस हमारे लिए।

साल पर साल बीतते गए। मायावी स्वप्न उछल-कूद छोड़ पलकों के भीतर क़ैद होने लगे। मीनाक्षी का विषय मनोविज्ञान था, मेरा साहित्य। मैं भाषाभाव की जटिलताएं सुलझाती, वह मानव-मन की। पृष्ठभूमि एक

ही थी। घंटों तर्क-वितर्क में बीत जाते। कई बार उलझ भी जाते। पर सौहार्द्र के रेशमी धागों पर से मतभेद की ऐसी गाँठें क्षणभर में ही अपने आप फिसलकर खुल जातीं।

पर ज़िंदगी का खुरदरा धरातल हमारे बीच आ ही गया। हार्दिक इच्छा के बावजूद मैं उसके साथ विद्यापीठ में न जा सकी। उस वर्ष वहाँ साहित्य विभाग में कोई स्थान रिक्त ही नहीं हुआ। विवश होकर मुझे गवर्नमेंट कॉलेज में आना पड़ा। दो जोड़ी आँखों का साथ-साथ देखा गया एक सपना पूरा हुआ पर दो दिलों के बीच महानगर की कई एक सर्पीली सड़कें फैल गईं।

पहले हमने भी सोचा था भौगोलिक दूरी क्या होती है, असली बात तो मन की है। पर ठोस धरती पर पाँव टिकते ही पता चल गया कि पंद्रह मील की दूरी तय करने के लिए मन के साथ-साथ एक अदद बस और एक जोड़ी मज़बूत पाँव ही नहीं, ढेर सारे समय की भी आवश्यकता होती है जिसका अभाव अध्यापन प्रारंभ करने के साथ ही हमें महसूस होने लगा था। फिर भी कुछ अतीत की स्मृतियों का तकाज़ा, कुछ मित्रता का रूमानी बंधन तो कुछ नए-नए अनुभवों को सुना-बाँटने का नया-नया उत्साह–हम हफ़्ते-दस दिन में मिल ही लेते। धीरे-धीरे अनुभवों की एकरसता के साथ-साथ उत्साह भी क्षीण पड़ता गया और फ़ोन पर हालचाल कह-सुनकर ही मन को तसल्ली आने लगी। हर बदले संदर्भ में अपना नया अर्थ खोज लेना मानव जीवन की सबसे बड़ी देन भी है, विवशता भी।

दृष्टि-क्षितिज पर नए-नए सूरज उगते और मन पंख समेटकर उन्हीं की ऊष्मा में छुप जाता। अपने-अपने सूरज के विकास-विस्तार में हम खोते गए।

रात-दिन के इस नीरस होते चक्र को उस मीन-नयना ने ही एक सुबह एक शुभ समाचार से तोड़ा था–रतन के बारे में बताते समय उसके रक्ताभ गालों पर ही अनेक नन्हे-नन्हे चाँद सूरज उग आए थे। समृद्ध घराने का सुसंस्कृत बेटा। वह स्वयं भी भरे-पूरे परिवार से थी–पाँच भाइयों की इकलौती बहन, पिता सरकारी अफ़सर, माँ गृहस्थी के परंपरागत दायित्वों को निभाते हुए भी सामाजिक स्तर पर जागरूक। रतन

एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट का व्यवसाय करता था–सुदर्शन व्यक्तित्व, मृदुभाषी स्वभाव।

उसके विवाह को लेकर काफ़ी व्यस्तता रही। उपहार के बारे में भी कई दिन सोचना पड़ा–क्या दूँ ऐसा जो रुचे भी और उसके पास हो भी नहीं? संपन्नता कई बार कल्पना एवं आत्मीयता की कोमल पर्तों को बिना खोले भी तो आगे बढ़ जाती है। आशंका मीनाक्षी को लेकर नहीं थी। पर विवाह का उपहार तो परिजनों द्वारा भी देखा-सराहा जाता है। समझ में नहीं आकर दिया कि ऐसा क्या हो सकता है जो उसे विशेष अपनों से न मिलने वाला हो। उलझन से उसी ने उबारा–

"जो मैं कहूँगी, दोगी?"

"कहकर तो देखो..."

"तो मुझे ग्वालियर पॉटरीज़ का दो कप वाला एक टी सेट दे दो... बस..."

"अरे वाह! यह भी कोई चीज़ हुई?"

"हुई क्यों नहीं? तुमने मनपसंद चीज़ पूछी थी, सो मैंने बता दी।"

"लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे...?" उसने मुझे पहले से भी अधिक पशोपेश में डाल दिया था।

पर दो-चार चीज़ें और जोड़कर दिया वही। कश्मीर से पंद्रह दिन बाद लौटने पर मनपसंद चीज़ पाकर उसने मुझे फ़ोन किया था–रंग और डिज़ाइन की बेहद तारीफ़ भी की थी यद्यपि उन इने-गिने रंगों और डिज़ाइनों में चुनाव करना कोई मुश्किल काम न था।

बहुत दिन बाद ही, जब स्वयं मैं भी पुनीत के साथ जुड़ चुकी थी, अपने और रतन के लिए दो प्याले चाय के साथ हर सुबह की शुरूआत करने की उसकी प्यारी, सादगी भरी इच्छा की रंगीन ख़ुशबू पूरी तरह मुझ तक पहुँची थी।

कैलेंडर बदलते रहे। परिप्रेक्ष्य बदले। अब बच्चों के जन्मदिन पर ही आना-जाना होने लगा। मैं सुहास-विकास में खो गई, वह रोली में।

पर एक दिन अचानक अनिर्हत चलता समय का पहिया ठिठककर रुक गया!

रतन ने कहा था–"बहुत बुरी ख़बर है रमा।"

"क्याऽऽ?" उसकी रुँधती आवाज़ फ़ोन पर और भी भयावह लग रही थी।

"मिन्नी बीमार हो गई है रमा...बहुत बीमार..."

"क्यों, क्या हुआ? डॉक्टर कुमार को दिखाया? सुहास की हर्पीज़ उन्होंने पंद्रह दिन में बिल्कुल..."

"उसे कैंसर है रमा..."

"क्याऽऽ? क्या कह रहे हो?" फ़ोन मेरे हाथ से छूटते-छूटते बचा था।

"..."

"किसे दिखाया था? डॉक्टर मूर्ति को दिखाया?"

"सबको दिखा चुका हूं रमा...सबकी एक ही डायग्नोसिस है–एडवांस्ड स्टेज ऑफ कैंसर..." काँपते हुए रिसीवर के काले छेद शब्द नहीं ज़हर उगल रहे थे।

"हे भगवान! ये क्या हो गया? कैसे हो गया?" मैं सिर पकड़कर बैठ गई।

होश आते ही हम उसे देखने भागे, पर चेहरे ही नहीं, शब्द भी पीले पड़ गए थे। बार-बार हम उसे दिलासा देते रहे कि शायद जाँच में कोई गड़बड़ी हुई है। कई बार एक्स-रे प्लेट्स बदल जाती हैं और सच भी हो तो घबराने की कोई बात नहीं। अब तो देश में एक-से-एक आधुनिक उपकरण उपलब्ध हैं, एक-से-एक दक्ष डॉक्टर हैं। वह निश्चित रूप से ठीक हो जाएगी। शायद दिलासा हम स्वयं को दे रहे थे–नश्वरता के आतंक से अपने को मुक्त करने का प्रयास करते हुए। क्या पता कब हमारी बारी आ जाए अचानक एक दिन–इसी तरह? वह सुनती रही थी। एक पीली मुस्कुराहट उसके चेहरे पर पुती थी–हमारी कमज़ोर दिलासा पर या अपने कमज़ोर पड़ते मन पर।

रतन का मन कमज़ोर नहीं था। पुष्टि पाते ही वह पत्नी को विदेश ले गया था। इलाज हुआ–ऑपरेशन भी। पर जड़ें इतनी फैल चुकी थीं कि डॉक्टर कोई दिलासा न दे सके। भगवान की मर्ज़ी पर आकर सब उम्मीदें ठहर गईं। साधन-संपन्नता के हौसले पस्त हो गए।

उनके लौटते ही हम मिलने गए थे। पर आधे घंटे में मुश्किल से डेढ़ वाक्य मुँह से निकला। उसी ने स्थिति हाथ में ली–सचमुच ही टोपी

गिरा देने में सक्षम ऊँची-ऊँची इमारतों की चर्चा चलाते हुए। हमारे मना करने के बावजूद चाय बनवाई–"मैं भी तो पिऊँगी।" रतन और रोली के छलकते से आँसू उसके क़हक़हों में दबने लगे। तीन घंटे बिताकर हम लौटे तो मौसम पूरी तरह बदल चुका था।

उन दिनों जल्दी-जल्दी कई चक्कर लगे थे उसके घर के। हर बार ही दोस्तों-रिश्तेदारों का जमघट मिलता। रास्ते का चिराग़ ही नहीं, मंज़िल तक भी अचानक छिन जाने पर तिनके का सहारा देने आए लोग...सहमी-सहमी सी फ़िज़ाँ और उसमें हँसी-मज़ाक के रंग भरती मीनाक्षी।

स्तब्ध आघात का सदमा कुछ कम हुआ तो ज़िंदगी फिर ढर्रे पर आने लगी–वही फ़ोन पर हालचाल लेने का सिलसिला। मीनाक्षी से घंटों बात करने पर भी पता न चलता कि उसका साथ अब कुछ ही समय का है।

पर रतन...पूजा-पाठ के नाम से बिदकने वाला आज हर बुत के आगे सिर टेकने को तैयार था।

"अरे तुम यहाँ...?" मंदिर में उसे देखकर मुझे सचमुच ही आश्चर्य हुआ था।

"गुज़र रहा था तो सोचा दर्शन ही करता चलूँ..." गले में पड़े रुद्राक्ष के बड़े-बड़े मनकों को घुमाते हुए वह बोला।

"मीनाक्षी कैसी है?"

"बाहर से तो ठीक ही है। पर लगता है तकलीफ़ बढ़ रही है...कई कई रातें करवट बदलकर काट देती है..."

"कुछ कहती है–तुमसे? रोली से?" मैं नहीं पूछ सकी कि उसके रातभर जागने का राज़ तुम कैसे जान पाए।

"नहीं, कुछ नहीं कहती...किसी से कुछ नहीं कहती। दया झेलना बहुत कष्टदायक होता है रमा। मिन्नी को लोगों की तरस खाती निगाहें पीड़ा देती हैं। मैं ही जानता हूँ..." सामने पुजारी को आते देखकर वह उधर ही मुड़ गया।

मैं नहीं जानती थी क्या? हथेली पर सूरज लेकर चलने का हौसला रखने वाली से एक दिन लोग इसलिए मिलने जाएंगे, इसलिए भलमनसाहत से बात करेंगे, इसलिए उसकी बात मान लेंगे कि वह चंद दिनों की मेहमान है तो वह तो जीते जी मर गई समझो।

औरों की क्या कहूँ? मेरे मन में ख़ुद यह चोर नहीं है क्या? उसके जिन सवालों पर गुज़रे हुए ज़माने में भीषण बहस छिड़ सकती थी, उन्हें मैं बिना विवाद किए मान लेती। वह कभी कहीं चलने को कहती तो असुविधा होते हुए भी चल पड़ती। ख़रीददारी करते समय उसकी पसंद की चीज़ अनिच्छा होते हुए भी ले लेती–"नहीं तो इसे बुरा लगेगा।"

आज एंपोरियम में भी तो यही हुआ। पुनीत तीन माह के लिए अगले ही सप्ताह लंदन जाने वाले हैं। विदेशी मित्रों के लिए उपयुक्त उपहार खोज रही थी कि वह दिख गई। कुछ अधिक कृशकाय। कुछ अधिक मलिन।

"कैसी हो?" मैंने उसका कमज़ोर हाथ अपने हाथ में ले लिया।

"बिल्कुल ठीक। तुम सुनाओ..." शब्द पुराने थे, पर स्वर उदास, थका-सा। या मुझे ही ऐसा लगा?

"कैसे आईं? अकेली हो?" सुरुचिपूर्ण ढंग से बाँधी गई उसकी सुंदर साड़ी देखकर मन कुछ हल्का हुआ। आश्वस्त भी।

"हाँ। आज रोली की एक सखी का जन्मदिन था। उसे वहाँ छोड़ा तो सोचा उसके लिए कुछ ड्रेसेज़ ही देख लूँ..."

बिटिया के प्रति समर्पित उसके वात्सल्य पर ममता हो आई। कितने शौक से उसका एक-एक कपड़ा ख़रीदा करती थी, पर अब? क्या-क्या ख़रीदकर रख सकेगी? रोली जानती तो है कि..."

"मम्मी का हाल मिला?" इन लोगों के अमरीका जाने के बाद मैंने फ़ोन पर पूछा था।

"जी, आंटी..." लगता था ग्यारह बरस की बच्ची सप्ताह भर में जैसे वयस्क हो गई हो। नानी से फ़ोन पर हुई पापा की बात भरसक दोहराते हुए उसकी आवाज़ लरज़-लरज़ गई थी।

"देखो, घबराने की कोई बात नहीं...हम सब तो हैं न तुम्हारे पास... मम्मी जल्दी ही अच्छी होकर आ जाएंगी।"

"जी, आंटी..." भरसक दबाने पर भी एक सिसकी निकल ही गई थी।

"क्या रोली जानती है कि अब समय बहुत कम रह गया है...?"

"इसके बाद रोली का क्या होगा?"

वर्षा की राख ठंडी भी नहीं हुई थी कि रमेश की नाकेबंदी कर दी गई। लोगों के पास तर्क की कमी नहीं थी–अभी उम्र ही क्या थी उसकी? उस पर छोटे-छोटे बच्चे और बूढ़े माता-पिता। चार महीने बाद ही एक दूसरी डोली उसके दरवाज़े पर आई थी जिसमें से दो महावर लगी पाजेबों ने उतरकर मौत की मनहूसियत को देखते-ही-देखते बाहर निकाल फेंका।

तो क्या रतन भी? चालीस के आसपास ही तो होगा...यह तो कुछ भी उम्र नहीं...चार छः साल में रोली की शादी हो जाएगी तब...?

गंगा चाची तो सुनते ही बोली थीं–"हमारे ज़माने में तो छोटी बहनें घर सँभाल लिया करती थीं..."

"उसकी कोई बहन ही नहीं है..."

"अरे सगी नहीं है तो ममेरी-चचेरी तो होगी..."

और मुझे महीनों पहले देखा एक चेहरा याद आ गया जिसका परिचय मीनाक्षी ने मामी की भतीजी कहकर कराया था। सजी-सँवरी, गदराई काया जो फूफा की भानजी का हाल सुनते ही दौड़ी चली आई थी। अपने आप ही या दुनिया के चाल-चलन से परिचित माँ के तकतकाने पर? हो सकता है मीनाक्षी की मामी की दूरदर्शिता ही रही हो–भाभी-भाई की रातों की नींद लौट आएगी और ननद के दामाद का घर भी उजड़ने से बच जाएगा।

मीनाक्षी भी सोचती तो होगी ही...रतन से कुछ कहा भी हो शायद। रतन भी शायद सोचता हो...पहाड़-सी ज़िंदगी और निपट अकेलापन। रतन से क्या कहा होगा इसने?

"तुम तो बताओ कैसे आना हुआ इधर?" वह मुझसे पूछ रही थी।

"अरे वाह...यह तो बहुत अच्छी ख़बर है..." सुनते ही वह चहक उठी और मेरा हाथ पकड़कर लगभग घसीटते हुए एक कक्ष में ले गई। "यहाँ बहुत सुंदर-सुंदर चीज़ें आई हैं। किसी को भी पसंद आ जाएंगी। मैंने तो देखते ही पैकेट बँधवा लिया–लेना-देना तो घर-गृहस्थी में लगा ही रहता है..."

उसकी दूरदर्शी सुघड़ता हमेशा ही चर्चा का विषय रही है। पता नहीं इस तरह चुन-चुनकर ली गई कितनी चीज़ें अपने हाथों किसी को दे जाएगी? शायद सब कुछ रोली के ही काम आए...

"देखो...असली हाथी दाँत का काम है..." पर मैं अभी तक एकटक उसके चेहरे को देख रही थी। रंग भले ही उड़ गया हो पर नाक-नक़्श का पैनापन कुछ और भी उभर आया था।

मिसिज़ अवस्थी को भी तो यही हुआ था। कुंदन-सी दमकती काया को राख होते हमने प्रत्यक्ष देखा। और बाद के दिनों की वेदना–स्वयं परिवार वाले उनकी मुक्ति की प्रार्थना करते। पुस्तक मेले में जाने से इंकार करते हुए उनकी बेटी इंदु ने कहा था–"क्या करूँगी जाकर? कुछ ख़रीद तो सकती नहीं। माँ के बाद तो उनकी सब किताबें मेरी ही हो जाएंगी। उन्हीं को रखने की समस्या रहेगी। अंबुज ने तो रैक्स का ऑर्डर भी दे दिया है..." मिसिज़ अवस्थी के छुटकारे की प्रार्थना करते हुए भी बेटी-दामाद का माँ की मृत्यु के प्रति ऐसा तटस्थ दृष्टिकोण कई दिन तक ज़बान को तल्ख़ बनाए रहा था।

"पर रोली अभी छोटी है..."

"कैसा लगा?" वह पूछ रही थी।

उसकी पसंद पर कभी किसी को शक नहीं रहा। दो-चार डिब्बे खोलने और बंद करने के बाद मुझे कहना ही पड़ा–"चीज़ तो सचमुच अच्छी है। पर दाम कुछ ज़्यादा नहीं लग रहे?"

"सौ रुपये से कम में तो आजकल कुछ भी ढंग की चीज़ नहीं आती। उस हिसाब से तो मुझे सस्ते ही लगे...काम देखो कितना बारीक है..."

बात ठीक थी। पर बीस-पच्चीस उपहार लेने में मेरा बजट गड़बड़ा रहा था। उसकी बात और थी–वैसे भी आजकल तो रतन ने खुली छूट दे रखी थी। अच्छा, क्या उसके मन में कभी यह ख़्याल भी आता होगा कि सुंदर क़ीमती उपहार पाकर लोग उसकी दरियादिली को हमेशा याद रखेंगे? उसको याद रखेंगे? हमारे यहाँ एक छात्रवृत्ति के लिए कोषनिधि देते हुए रतन ने बताया था कि विद्यापीठ में भी उसने दो चल वैजयंती स्थापित की थीं। नश्वर संसार में कर्म ही तो अजर-अमर है।

"सोचती हूँ पुनीत को साथ लेकर ही आऊँ...इनको अधिक अंदाज़ा होगा कि क्या ठीक रहेगा...भार की भी तो समस्या है न..." मैंने डरते-डरते कहा–कहीं उसे बुरा न लग जाए।

"यह भी ठीक है...तब चलो एक कप कॉफ़ी हो जाए..." उसके पैर कुछ लड़खड़ा रहे थे।

"तुम भी क्यों नहीं साथ चली जातीं? तीन ही महीने की तो बात है..."

समय कुछ अधिक नहीं था। सोच मैं भी रही थी। तीन महीने...अगर चली गई तो लौटकर यह मिलेगी? डॉक्टरों ने साल-डेढ़ साल ही तो कहा था...मिलेगी भी तो पता नहीं किस हालत में...दैविक चमत्कार तो फ़िल्मों में ही हुआ करते हैं। मिसिज़ अवस्थी का दर्द से विकृत चेहरा फिर सामने आ गया-"दया करना प्रभु!" गोदी में रखे मेरे हाथ स्वयमेव ही जुड़ गए।

"चलो अच्छा हुआ-यहाँ मुलाकात हो गई। मैं तुम्हारी तरफ़ आने की ही सोच रही थी," वेटर को ढेर सारी चीज़ों का ऑर्डर देकर वह बोली।

"अब वक़्त बहुत कम रह गया है ना...सोचा सबसे जी भर बात तो कर लूँ..." उसकी आवाज़ शायद हल्की-सी काँपी पर मुस्कुराहट में कोई अंतर नहीं आया। क्या सचमुच वह भीतर से भी उतनी ही सहज थी?

"कैसी पागलों-सी बातें करती हो?" साड़ी पर छलक गई कॉफ़ी को पोंछते हुए मैंने कहा।

"अरे नहीं...अब तो गिद्ध भी रास्ता देखने लगे होंगे..." वह प्याले में ज़ोर-ज़ोर से चम्मच चला रही थी। चाय की नन्हीं-नन्हीं डूबती-उतराती लहरें बीच में बन रहे भँवर में गड्ड-मड्ड हो रही थीं।

आजकल तो शायद इसको सपनों में भी यही सब दिखाई देता होगा-लंबी लाल पारभासी गर्दनें...काले शरीर...शिकार पर टूटते-झपटते प्यासे पंजे...रतन तो कह रहा था रात-रातभर सोती ही नहीं। इन दुःस्वप्नों के डर से तो नहीं?

मुझे बरसों पुरानी दो-प्याली चाय से दिन की शुरूआत करने की इसकी बात याद हो आई। अब हर नए सवेरे के साथ कैसा लगता होगा... एक दिन और कम हो जाने का अहसास? चढ़ते सूरज के साथ-साथ क्या इसका दिल बैठता न जाता होगा? गिने-चुने लम्हे हों तो एक-एक साँस का हिसाब रखना पड़ता है। सुबह की चाय अभी भी रतन के साथ इत्मीनान से बैठकर पीती होगी?

"ये लैंप बंद कर दूँ?" मेज़ पर लटक रही रोशनी गुल होते ही उसके चेहरे पर अँधेरे-उजाले की अजीब-सी आड़ी-तिरछी रेखाएं फैल गईं। इसको उजाले से डर लगता है क्या? आजकल तो इसे शायद अपने आपसे भी डर लगता हो। आईना देखती होगी यह?

"क्या सोचने लगीं?" वह मुस्कुराई तो चेहरे पर पड़ती रेखाएं और भी टेढ़ी हो गईं।

"इतनी आसानी से छुटकारा नहीं मिलेगा...हम सब मिलकर पकड़-बाँध नहीं लेंगे? ये फ़ालतू की बातें दिमाग़ से निकाल दो, समझीं? अभी तो तुम्हें कितना कुछ करना है–रोली की पढ़ाई, शादी..." एक साथ ही ढेर सारे शब्द मेरे हाथ लग गए थे।

"ऐसी मेरी क़िस्मत कहाँ..." बात उसने बीच में ही काट दी–"रोली छोटी-सी थी, तभी से मन उसके ब्याह की तैयारियाँ करता रहा है, तब क्या पता था..." नाक साफ़ करने के बहाने उसने अपने को सँभाल लिया। "छोड़ो...उसका ब्याह तुम लोग करना। आख़िर मॉसियों का इतना फ़ायदा तो होना ही चाहिए..."

एक भव्य शादी का धूमधड़ाका मेरे कानों में गूँज रहा था। रास्तेभर ख़रीज़ लुटाती, आतिशबाजी छुटाती इत्र में डूबी एक बारात छः घोड़ों की बग्घी में एक राजकुमार को बिठाकर लाई थी। तब यह कौन जानता था कि राजकुमारी अभिशप्त थी?

"मॉसियों के बहुत फ़ायदे होते हैं," मैंने हँसते हुए बात बदलने की कोशिश की–"सुहास तो अभी भी उस टेडी बियर के साथ सोता है जो तुमने उसे पिछले साल दिया था।"

उसके बाद बड़ी देर तक हम देस-परदेस की बात करते रहे। रोली को लेने जाने में अभी काफ़ी समय था। चाहकर भी मैं दूसरे कक्ष देखने जाने के लिए न कह सकी जहाँ शायद मेरी पसंद की चीज़ मिल जाती। एक-दो बार सोचा भी कि इतने समय में कितना कुछ कर सकती थी। घर से निकलना कितनी मुश्किल से हो पाता है। पर इसके मन को ठेस पहुँचने का डर...।

ये असामान्य होते संबंध–इस हद तक कि वह सामने पड़ जाए तो नज़र बचाकर निकल जाने की इच्छा हो...उसकी हर हालत में मन रखने

को कृतसंकल्प हम...सबकी सहानुभूति को अपने हँसी-ठहाकों में उड़ाती वह...बातों के खोखलेपन से भिज्ञ हम सभी...कभी-कभी लगता है कि जिस संसार में इंसान के अगले पल का भी भरोसा नहीं, वहाँ मात्र उसी के लिए सद्व्यवहार क्यों जिसकी साँसों का लेखा-जोखा है? पिछले महीने की ही तो बात है—मिस्टर मणि अच्छे भले दफ़्तर गए। सिर में दर्द-सा लगा तो एक एस्प्रो ले ली। पर दर्द बढ़ता ही गया तो साथी अस्पताल ले गए, लेकिन डॉक्टर के देखने तक खेल ख़त्म हो चुका था। सब हाथ मलते रह गए...।

× × ×

कामना ने इसी वर्ष हमारे यहाँ से एम० ए० किया। वर्ष की सबसे अच्छी छात्रा होने का पदक भी लिया तो सभी अध्यापिकाएं उसे अच्छी तरह जान गईं—यह मेधावी भी थी और महत्त्वाकांक्षी भी। विश्वविद्यालय की फूल-प्रदर्शनी में एक दिन मिल गई तो मैंने यों ही पूछा—"क्या कर रही हो?"

"फ़िलहाल तो एम० फ़िल० में दाख़िला ले लिया है। इस साल कहीं वेकेंसी ही नहीं निकली...वैसे सुना है विद्यापीठ में जल्दी ही एक जगह ख़ाली होने वाली है..."

"विद्यापीठ...?" मेरे कान चौंके।

"हाँ...वहाँ की एक टीचर सुना है बस कुछ ही दिन की मेहमान हैं। उनकी जगह मुझे मिलेगी...चेयरमैन पापा के पुराने दोस्त हैं—परमानेंट पोस्ट है। उन्होंने वायदा किया है..." कामना की आँखों में लाल, हरे पीले फूल दप् दप् खिल उठे थे।

'अब तो गिद्ध भी रास्ता देखने लगे होंगे...' मीनाक्षी प्याले में ज़ोर-ज़ोर से चम्मच चला रही थी।

मेरी नज़रें कामना की गर्दन पर टिक गईं। नहीं, लाल तो वह नहीं थी। कहीं से भी नहीं। शरीर का रंग भी उजला था, काला नहीं।

पर शायद गिद्ध भी तरह-तरह के होते हैं...एक गिद्ध इस समय मुझे उसकी आँखों में पंजे फैलाए इत्मीनान से बैठा दिखाई दे रहा था।

: 11 :
बर्र का छत्ता

पाँचवें पृष्ठ तक पहुँचते-पहुँचते सुमन बाला चौंक पड़ी। यही सब अभी कुछ देर पहले नहीं पढ़ा था क्या? विषय-वस्तु तो ख़ैर परिचित होनी ही थी, पर भाषा भी पढ़ी-पढ़ी सी लग रही थी। शायद उसका वहम हो, उसने पन्ना पलटा। अरे! वह उठकर सीधी बैठ गई। यह भी पढ़ा हुआ सा लग रहा है। उत्तेजना में उसने कई सारे पृष्ठ पलट दिए। ऐसा तो नहीं कि इस उत्तर-पुस्तिका को उसने पहले ही पढ़ डाला हो और अंक देने रह गए हों। उसके साथ कई बार ऐसा हो जाता है। परीक्षार्थियों का सामान्य स्तर जानने के इरादे से वह बंडल में से पाँच-सात उत्तर-पुस्तिकाएं बीच-बीच में से यों ही खींच लेती और आद्योपांत पढ़ डालती। उसके बाद ही अंक देना आरंभ करती। समय अवश्य काफ़ी लग जाता था पर उसे यही सुविधाजनक लगता और फिर तो यही आदत बन गई थी।

परीक्षा परिणाम जमा करने की तिथि पास आ चली थी और उसका आधे से भी अधिक काम शेष था। यों अंतिम तिथि कोई पत्थर की लकीर नहीं। चार-छः दिन इधर-उधर आसानी से हो सकते थे। पर इसके लिए प्रमुख परीक्षक भानु प्रताप से तो कहना ही पड़ता। वह जानती थी कि स्वयं उनका कार्य भी निर्धारित तिथि तक पूरा होने वाला नहीं पर उसके अतिरिक्त समय माँगने की बात पर वे अवश्य उन सब काल्पनिक परेशानियों का उल्लेख करेंगे जो परीक्षा विभाग से संबद्ध अधिकारी तब उनके सामने खड़ी कर देंगे। इस अप्रिय स्थिति से बचने के लिए सुमन बाला भरसक प्रयास कर रही थी कि काम समय पर ही पूरा हो जाए। मात्र यही कारण नहीं था। बबलू ने साफ़-साफ़ बता दिया था कि इस बार की गर्मी की छुट्टियाँ वह दिल्ली में सड़कर नहीं काटने वाला।

उसके सब दोस्त एक-एक करके किसी-न-किसी पहाड़ पर जा चुके थे। दस साल के बच्चे को फुसलाना भी तो आसान नहीं। बच्चे की ज़िद को देखते हुए महेंद्र ने दफ़्तर से छुट्टी का जुगाड़ ही नहीं, मनाली आने-जाने का आरक्षण भी करवा लिया था।

माँजी को छोटी मॉसी कब से लिख रही हैं कि बीमार बहन को एक बार तो आकर देख जाओ। मार्च में हुए दिल के दौरे को उन्होंने झेल तो लिया पर इस दुनिया से दाना-पानी उठने का समय आ गया समझो। बड़कू भाग-दौड़ में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता। भगवान उसे लंबी उमर दे। पर ऊपर वाले का बुलावा आ जाए तो सब भाग-दौड़ धरी रह जाती है, तुम जानो। एक बार तुम्हें जी भरके देख लेती तो चित्त शांत हो जाता। मनाली से उन लोगों के लौटते ही माँजी बहन से मिलने जाएंगी। घर के अकेला पड़ जाने की बात न होती तो माँजी भी उन्हीं लोगों के साथ निकल लेतीं। और सच पूछा जाए तो स्वयं सुमन बाला भी कुछ दिनों को यहाँ से निकल भागने के लिए कम आतुर नहीं थी। दिनचर्या की उकताहट उसे भी बहुत थका चुकी थी। कभी-कभी तो खीझकर सोचती कि कॉपियाँ जाँचने का यह बोझ अपने सिर न ओढ़ती तो ही अच्छा था। पर फिर स्वयं ही अपने को समझा भी देती– यह भी तो अध्यापकीय दायित्व का ही अंग है। सभी ऐसा सोच-सोचकर मना करने लगे तो आख़िर कौन जाँचेगा उत्तर-पुस्तिकाओं को? मुट्ठीभर लोगों के ऊपर सारा भार आ पड़े तो कोई कैसे ठीक से कॉपियाँ जाँच कर नंबर देने का काम करेगा? फिर हम ही लोग शिकायत करते घूमते हैं कि विद्यार्थियों के साथ न्याय नहीं होता–सालभर तक सर्वश्रेष्ठ रहा विद्यार्थी मुश्किल से पास होता है और कक्षा में हमेशा लड्डू पाने वाला बढ़िया अंक लेकर मुस्कुराता फिरता है। परीक्षार्थियों को भला न्याय मिले तो कैसे?

महेंद्र शायद ठीक कहते हैं–इंसान को अधिक सोचना नहीं चाहिए। यह बिना मतलब सोचना और सोच-सोचकर परेशान होना ही सारी मुसीबतों की जड़ है। आदत के मारे कुछ लोग तो यही सोच-सोचकर परेशान होते फिरेंगे कि आज के ज़माने में सोचने के लिए कुछ बचा ही नहीं।

खाना ख़त्म करने के बाद सुमन बाला फिर अपना बंडल ले बैठी कि घंटा डेढ़ घंटा लगाकर थोड़ा काम और निपटा दे।

बबलू को दादी कहानी सुना रही थीं, "एक राजा था। बड़ा भला। बड़ा दयालु। प्रजा का हित चाहने वाला। एक दिन उसने सोचा कि शहर के बड़े ताल का पानी दूध बन जाए तो कितना अच्छा हो। फिर तो किसी भी बच्चे को दूध के लिए तरसना नहीं पड़ेगा। बच्चे स्वस्थ होंगे तो माँ-बाप सुखी होंगे। स्वस्थ और सुखी प्रजा हो तो भला राजा को और क्या चाहिए! पर पानी दूध बने कैसे? राज सोचता रहा, सोचता रहा। आख़िर एक दिन उसे उपाय सूझ ही गया। उसने कई सौ आदमी लगाकर तालाब का पानी उलीचवा दिया और डुगडुगी पिटवा दी कि कल सुबह सूरज निकलने से पहले हर कोई अपने घर से एक-एक लोटा दूध लाकर तालाब में डालेगा। लोटा भर दूध दे देने से भला किसी का क्या नुकसान होने वाला था! यों ताल आसानी से दूध से भर जाएगा।"

बबलू तो कहानी सुनते-सुनते सो गया पर सुमन बाला उस रात बड़ी देर तक जागती रही। पाँच उत्तर-पुस्तिकाएँ बिल्कुल एक सी थीं, अंतर था तो बस लिखावट भर का। उसने अच्छी तरह बार-बार जाँच-परख लिया। 'पर ऐसा कैसे हो सकता है'–अविश्वास करते मन को उसने जबरन चुप करा दिया। यह जानना अधिकारियों का काम है, उसका नहीं। वह तो बस यह जानती थी कि संदेह की यहाँ ज़रा भी गुंजाइश नहीं थी।

अगले दिन महेंद्र के दफ़्तर जाते ही सुमन बाला ने इस सामूहिक नक़ल की सूचना देने के लिए भानुप्रताप को फ़ोन किया। उनकी प्रतिक्रिया से वह स्तब्ध रह गई। पहले तो वे यही मानने को तैयार नहीं हुए कि यह नक़ल का मामला हो सकता है पर जब सुमन बाला ने बताया कि वह एक-एक शब्द का मिलान कर चुकी है तब वे कहने लगे– "छोड़िए भी, आप काहे को इन पचड़ों में पड़ती हैं? रिपोर्ट कर भी देंगी तो पहली बात तो विश्वविद्यालय वाले कुछ करके नहीं देंगे और एक मिनट को मान लीजिए कि वहाँ भी आप जैसा अंतरात्मा की दुहाई देने वाला कोई बंदा निकल आता है जो आपकी शिकायत पर समुचित कार्रवाई कर डालता है तो जानती हैं क्या होगा? ये पाँचों छात्र (उम्मीद है ये सब छात्र ही होंगे) आपका जीना मुहाल कर देंगे।"

"उन्हें पता कैसे चलेगा कि शिकायत किसने की है? परीक्षक का नाम तो गोपनीय होता है।"

"पता कैसे चलेगा यह तो मैं नहीं जानता पर पता चल जाएगा, यह मुझे अच्छी तरह मालूम है। मेरी मानिए तो इस बला को मोल मत लीजिए। उनका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, आपकी जान के अवश्य कई एक दुश्मन पैदा हो जाएंगे।"

महेंद्र भी घर बैठे मुसीबत न्योतने के पक्ष में नहीं थे, "चलो, एक मिनट को मान लेते हैं कि तुम्हारा अनुमान सही है पर परीक्षा भवन में जो लोग ठीक निरीक्षक की नाक के नीचे यह सीनाज़ोरी कर सकते हैं उनके हाथ कितने लंबे होंगे इसका अनुमान भी तुम्हें होना चाहिए।"

पर सुमन बाला के अनुसार हाथों की लंबाई नापने-छाँटने का काम परीक्षा-अधिकारियों का था। उसका काम था उत्तर-पुस्तिकाएं जाँचना और उनमें पाई जाने वाली किसी भी अनियमितता की ओर संबंधित लोगों का ध्यान दिलाना। इतना ही बस उसने किया। न कम, न अधिक।

× × ×

छात्रों के हाथ कितने लंबे थे इसका पता भी सुमन बाला को शीघ्र ही चल गया। अभी वह इसी सोच में डूबी थी कि मनाली में बिताए पंद्रह दिन इतनी जल्दी क्योंकर बीत गए कि फ़ोन टनटना उठा। अध्यापक संगठन के एक भूतपूर्व अध्यक्ष बोल रहे थे-"एक सहकर्मी के साथ ऐसा करना क्या आपको शोभा देता था? आख़िर हमने आपका क्या बिगाड़ा था? आपको कोई शिकायत थी तो आप मुझसे कहतीं..."

"शिकायत? आपसे? पर मैं तो आपको जानती भी नहीं। नाम से अवश्य परिचित हूँ।"

"फिर मेरे बेटे का भविष्य चौपट करने पर आप क्यों तुली हुई हैं?"

"पर आपका बेटा है कौन?"

"प्लीज़ अब आप बनिए मत। जैसे आपको पता ही नहीं है कि..."

अब जाकर सुमन बाला को समझ आया कि जिन पाँच छात्रों की शिकायत उसने की थी उनमें से एक इन सज्जन का सुपुत्र रहा होगा।

"देखिए, मुझसे यह सब कहने के स्थान पर आप अपने बेटे से क्यों नहीं पूछते कि उसने ऐसी हरकत आख़िर क्यों की?"

"मुझे किसी से कुछ पूछने की ज़रूरत नहीं। मेरा बेटा ऐसा ओछा काम कर ही नहीं सकता। मैं जानता हूँ। आयम डेड श्योर..." सुमन बाला ने फ़ोन रख दिया।

पर यह सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ।

दूसरे छात्र के पिताश्री गणित के अध्यापक निकले। उन्हें भी पक्का यक़ीन था कि उनका बच्चा नक़ल नहीं कर सकता। "उसे नक़ल करने की ज़रूरत क्या है? उसका दसवीं का परीक्षाफल देखिए। बारहवीं का देखिए। बिना नागा पूरे साल वह कॉलेज में जाता रहा है। घर में भी बराबर किताब में ही सिर खपाए रहता है। आपको अवश्य कोई ग़लतफ़हमी हुई है।"

तीसरा छात्र इतिहास के प्रोफ़ेसर का बेटा था। उन्हें सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि सुमन बाला ने यह भी न सोचा कि अध्यापक का बेटा यह काम भला कैसे कर सकता है। संदेह हुआ भी था तो वे उनसे पूछ सकती थीं। बात वहीं-की-वहीं साफ़ हो जाती।

"सहयोगी से इतनी-सी कर्टसी की आशा तो हम कर ही सकते हैं।"

"आपको मेरा नाम दिया किसने?"

"वह छोड़िए। कुछ लोगों में अभी भी अपने अध्यापकों के प्रति आदर-सम्मान बचा हुआ है। कुलीग्ज का लिहाज़ करने वाले भी अभी कुछ लोग हैं। सब आपकी तरह थोड़े ही हैं।"

चौथे छात्र के पिता आई॰ जी॰ पुलिस थे। उनके दो मातहत तो सुमन बाला से बात करने घर ही चले आए–"साहब स्वयं ही आपसे बात करते पर पर्यावरण-सुरक्षा पर अपने यहाँ चल रही अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी के कारण आजकल तो उन्हें दम लेने की फुर्सत नहीं। दिनभर मीटिंग और रात को किसी न किसी के यहाँ खाना। कल गृहमंत्री जी के यहाँ डिनर था। आज पी॰ एम॰ साहब के यहाँ है। कल विदेश मंत्रीजी..."

पाँचवें छात्र के जनक के विषय में सुमन बाला को पता नहीं चल सका। वह जानना भी नहीं चाहती थी। जानना तो बस वह यह चाहती थी कि इन सबको उसका नाम दिया किसने। परीक्षकों के नाम गोपनीय नहीं होते क्या?

मान-मनुहार का असर नहीं हुआ तो बात धमकियों पर आ पहुँची।

"जवान खून कितना गर्म होता है, यह तो आप जानती ही होंगी।

तक तो हम किसी तरह सँभाले रहे पर कल बात हद से गुज़र गई तो उसकी ज़िम्मेदार आप स्वयं होंगी। भविष्य दाँव पर लगा हो तो बच्चे आख़िर कब तक ज़ब्त किए बैठे रहेंगे?''

सुमन बाला इन धमकियों से डरी नहीं यह कहना असत्य होगा। पर अपनी शिकायत वापस लेने को वह किसी भी तरह तैयार नहीं हुई। फिर पाँचों उत्तरपुस्तिकाओं पर लिखी गई उसकी विस्तृत टिप्पणी, अलग से नत्थी की गई रिपोर्ट–क्या-क्या वापस लिया जा सकता था?

''क्या सोचकर यह आफ़त मोल ले ली? घर में छोटा बच्चा, बूढ़ी सास। कल को कुछ ऊँच-नीच हो गया तो?'' उसकी मित्रों ने चिंता व्यक्त की।

''बर्र के छत्ते में काहे को हाथ दे दिया डॉ॰ बाला आपने? यह भी न सोचा कि इनविजिलेटर ने ही नहीं पकड़ लिया होता इतना ही आसान रहा होता तो?'' एक शुभाकांक्षी ने कहा।

''पकड़ता तो सीने में चाकू न खाता? और तब हम और आप ही इस नादानी के लिए उसकी आलोचना करते,'' गुप्ताजी ने भी अपनी कुर्सी इधर ही मोड़ ली थी।

''आजकल तो भैया अक़्लमंदी इसी में है कि ग़लत होता कुछ दिखाई दे तो तुम या तो अपनी आँख मूँद लो या फिर दूसरी तरफ़ देखने लगो'' सिंह साहब समझाने लगे।

''दुनिया से ही जी उचट गया हो तो बात अलग है,'' मिस पोपटी ने जाते-जाते जोड़ा।

''ये समाज-सुधारक तू कब से बन गई?'' प्रमिला ने पूछा।

''इसमें समाज-सुधार कहाँ से आ गया? ग़लत बात की रिपोर्ट नहीं करनी चाहिए थी क्या?'' सुमन बाला को आजकल मज़ाक भी व्यंग्य ही लगता।

''अपने देश में तो पूरे के पूरे केंद्र पर नक़ल होती है और धड़ल्ले से होती है पर कोई रिपोर्ट नहीं करता। जानकर भी सब अनजान बने रहते हैं। तुझे ही समाज का ठेकेदार बनने का नया शौक़ चर्राया लगता है। अख़बारों में केंद्रों के नाम-पते तक छपते हैं। कभी कुछ हुआ? तुझे कुछ याद भी रहता है?''

सुमन बाला को याद था। पर उसे और भी बहुत कुछ याद था। डॉ॰ नंदानी कहा करती थीं मैं जानती हूँ हमारी चालीस प्रतिशत अध्यापिकाएँ ही पूरे मनोयोग से काम करती हैं। पर उन चालीस प्रतिशत के बल पर मैं इस विद्यालय को चला सकती हूँ और अच्छी तरह चला सकती हूँ। बाक़ियों की मुझे परवाह नहीं।"

सुमन बाला उस चालीस प्रतिशत का हिस्सा ही रही हमेशा। पर यह उसने कभी नहीं सोचा था कि एक दिन वह यों, एकदम अकेली, खड़ी रह जाएगी। तब? क्या लौट चले? कहीं पढ़ा था कि युद्धभूमि से वीर योद्धा कभी पीठ दिखाकर नहीं लौटते। युद्धभूमि? कर्मभूमि युद्धभूमि ही तो होती है। हो सकती है। कर्मभूमि युद्धभूमि बन जाए तो अकेले पड़ गए योद्धा को क्या करना चाहिए?

सुमन बाला को समझ नहीं आ रहा था कि क्या करे, क्या नहीं। इधर कुछ दिनों से घर के आस-पास कुछ नए चेहरे अकसर मँडराते नज़र आते। बहुत संभव था किसी और से मिलने आते हों, किसी काम से आते हों। पर आशंकित मन आजकल हर बात अपने से ही जोड़ने लगा था।

मित्रों की सलाह पर उसने कुलपति से शिकायत की। आख़िर अतिगोपनीय सूचना बाहरी लोगों तक पहुँची कैसे? कुलपति ने जाँच समिति बैठा दी, उसे पुलिस सुरक्षा देने का अनुरोध भी इलाक़े के थाना इंचार्ज से कर दिया।

रात घिरने के साथ-साथ सुमन बाला की आशंका भी गहराने लगती है। एक दिन और बीत गया पर कल न जाने क्या हो!

बबलू को दादी अपने पास ही हिलगाए रहती हैं, "राजा तो डुगडुगी पिटवाकर आराम से सो गया। पर नगरवासियों ने सोचा, और सब लोग तो दूध डालेंगे ही, एक मैं अगर लोटा भर पानी ही डाल आऊँ तो किसे पता चलेगा। और यों मुँह अँधेरे सब लोग लोटा भर पानी बड़े ताल में डाल आए। सोकर उठते ही राजा पहुँचा अपना दूध का ताल देखने। पर वहाँ तो पानी ही पानी भरा पड़ा था। राजा ने अपना सिर पीट लिया।"

बबलू सो गया है। सारी रात आँखों में काटती सुमन बाला अभी भी सोच रही है क्या करे...।

: 12 :
छलाँग

"बहुत देर कर दी! हम तो सोचने लगे थे कि आज तुम ग़ोता लगा गए!" घड़ी की तरफ देखते हुए मैंने कहा।

"क्या करता! ये जो अपना नया बॉस है न, इसे पाँच बजे के बाद ही ज़रूरी चिट्ठियाँ याद आती हैं। वो तो ख़ैर मनाओ आज दो ही थीं। छः बजे निपट गईं नहीं तो इस समय भी अपनी टिपटिप ही चल रही होती," कौशल ने बताया।

"हमारी भी क्या ज़िंदगी है यार! दिनभर गधों की तरह खटो और ऊपर से बॉस का रौब सहो। पता है कल मेरा मैनेजर क्या पूछ रहा था? पूछ रहा था; इधर कुछ महीनों से मंदी क्यों चल रही है। अब भला बताओ लोग अगर तुम्हारी दुकान में नहीं आते, या आकर तुम्हारे जूते ख़रीदे बिना ही चले जाते हैं तो इसमें भी हमारी ग़लती है? अपना काम तो जूते दिखाना है, सो हम दिखाते ही हैं। एक की जगह चार। उसमें कोई चूक हुई हो तो बेशक तुम हमें कहो। पर ये क्या कि हर बात के लिए हमीं दोषी? मैं तो तंग आ गया हूँ।" रवि कई महीनों से किसी दूसरी नौकरी की तलाश में था। बस डर यही था कि खाई से निकलकर खंदक में न गिर जाए।

"तुम क़िस्मत वाले हो मोहन! अपना कारोबार, अपनी मर्ज़ी के मालिक। ना किसी की धौंस सहनी पड़ती है, न किसी की डाँट-फटकार।" सुरेश बिजली कंपनी में था। काम भी अधिक नहीं, पैसे भी ठीक-ठाक पर सबसे बड़ा होने की वजह से घर की सारी ज़िम्मेदारी उसी पर थी। पिता किसी स्कूल में पढ़ाते थे। हिंदी और संस्कृत। सो

परीक्षा के आसपास कुछेक बच्चे अवश्य उनसे ट्यूशन पढ़ने आ जाते पर बाक़ी समय कोई भी उनके पास न फटकता।

"ऐसी बात नहीं है यार! साले सेल्स टैक्स वाले नाक में दम किए रहते हैं। उनका मुँह ना भरते रहो तो पता नहीं कब कौन-सा अड़ंगा लगा दें। पिछले वाला इंस्पेक्टर इस हिसाब से ठीक-ठाक था। हर पहली तारीख को बँधी-बँधाई रक़म उसे थमा दी और हो गई छुट्टी। अब जो दूसरा तबादला होकर आया है उसकी तो बात ही समझ में नहीं आती।" मुझे शुरू से ही अपना धंधा जमाने की धुन थी। पापा की बैंक की नौकरी काम आई और मुझे सिलाई की मशीनें ख़रीदने के लिए छोटा-सा कर्ज़ मिल गया। घर पुराना ही सही पर अपना था। बिज़ी मेन रोड पर भी। उसी के एक कमरे में चार दर्ज़ी बैठने लगे। बैठक शोरूम बन गई। हमारे लिए दो कमरे बहुत काफ़ी थे।

"मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि हम क्या ज़िंदगीभर यों ही जूते चटकाते रहेंगे?" रवि कल की बात भूल नहीं पा रहा था।

"चलो, आज की शाम इसी मुद्दे पर गहराई से विचार किया जाए। पर पहले यह तो तय हो जाए कि चलना कहाँ है? इंडिया गेट चलोगे? इतनी सुंदर शाम यों दुखी होने या मन मारने के लिए नहीं बनी है," मैंने उठते हुए कहा।

"शाम भी सुंदर है और इंडियागेट जाने का ख़्याल भी बुरा नहीं है। बरसों हो गए, वहाँ गए," सुरेश ने कहा तो रवि और कौशल भी उठ खड़े हुए।

महीने के दूसरे शनिवार को कहीं-न-कहीं मिलने का हमारा यह सिलसिला बरसों से चला आ रहा था। कॉलेज छोड़ा तभी से। कॉलेज के दिनों में ही हम चारों की दोस्ती काफ़ी मशहूर हो चुकी थी। पढ़ाई पूरी करके ज़िंदगी के सफ़र पर निकले तो पता चला कि अब तो न मंज़िल अपने बस में है, न रास्ता।

परिवार का यथार्थ रवि को गाज़ियाबाद ले गया तो सुरेश मेरठ जा पहुँचा। कौशल और मैं राजधानी के दो छोरों से बँध गए। तय हुआ कि महीने की एक शाम तो गुज़रे दिनों के नाम की ही जानी चाहिए। आख़िर

पाँच वर्ष हम साथ रहे थे। साथ-साथ धरातल में जा रहे देश की चिंता में दुबलाए थे, साथ-साथ समाज की बर्बादी के लिए अगले-पिछले लीडरों को कोसा था, साथ-साथ सुखद भविष्य के सपने देखे थे। सुरेश ने सुझाया कि महीने के दूसरे शनिवार को मिलने का रखा जाए। उस दिन उसका दफ़्तर बंद होता था। रवि जिस दुकान में सेल्समैन बना वह भी शनिवार को ही बंद होती थी। हम सभी ने किसी कहानी में दो दोस्तों की यों ही किसी पहले से नियत समय पर होने वाली मुलाक़ात के विषय में पढ़ रखा था और हम सभी को यह विचार बड़ा रोमांचक लगा था।

चार साल होने को आए। सुरेश बीच में तीन-चार बार नहीं आ पाया। एक बार अपनी शादी के सिलसिले में। एक बार बच्ची के जन्म पर। फिर बहन की शादी के कारण। पर कुल मिलाकर मिलते रहने का, आपबीती सुनाने का हमारा यह सिलसिला चलता ही रहा। तय हुआ था कि आज सब मेरे घर पर मिलेंगे। मेरी दुकान का मुआयना करेंगे, खाना खाएंगे और फिर पिछले महीने ख़रीदी गई मेरी सेकिंड हैंड गाड़ी का उद्घाटन।

मैंने समझाया था कि रास्ते की रौनक से हमारा मूड बदल जाएगा पर कार से उतरकर एक अपेक्षाकृत एकांत कोने में बैठे ही थे कि कौशल बोल पड़ा, "सच! कभी-कभी तो इतनी खुंदक आती है कि मन करता है या तो अपना गला घोंट लूँ या सामने बैठे इस बॉस के बच्चे का।"

"लोगों के पास कितना पैसा है?" सामने चौराहे की बत्ती लाल हो गई थी और जहाँ तक दृष्टि जाती थी कारें ही कारें दिखाई देती थीं। कुछ कारों की खिड़कियों से झबरैले कुत्ते झाँक रहे थे। "हमसे तो ये ही अच्छे," रवि ने लंबी साँस भरी।

"भगवान से मनाओ कि मेरा काम जल्दी जम जाए। फिर तुम तीनों यहीं आ जाना। नौकरी-वौकरी का चक्कर ही ख़त्म। चारों पार्टनर्स मिल जाएं तब देखना हम कहाँ पहुँचते हैं।" मुझे सचमुच कनॉट प्लेस के एक बड़े शोरूम के बाहर 'चार दोस्त' का साइनबोर्ड दिपदिपाता दिखाई दे रहा था।

"भगवान से मनाने से कुछ होने वाला होता तो कभी का हो लिया होता। भगवान भी उन्हीं की मदद करता है जो स्वयं अपनी मदद करते हैं," कौशल बोला।

"तो भई आख़िर मैं अपनी मदद करूँ कैसे? दस-बीस लाख रुपये कहीं से मिल जाएं तो इस काम में इतना स्कोप है कि क्या बताऊं।"

"दस-बीस लाख तो भई लॉटरी से मिल जाएं तो मिल जाएं वरना कहीं डाका डाले बिना तो मिलने से रहे।"

"वैसे मैं लॉटरी के दो-चार टिकट तो हर महीने ले लेता हूँ। पर अभी तक क़िस्मत खुली ही नहीं," सुरेश ने बताया।

"तो फिर बात साफ़ है। डाका डालो," कहकर कौशल ने ठहाका लगाया।

"अरे डाका डालना उतना ही आसान होता तो सभी डाका डाल लेते। डाका डालने के लिए पूरा गैंग होता है," सुरेश ने याद दिलाया।

"तो हम क्या कम हैं? लोग तो कहते हैं एक और एक भी ग्यारह बन जाते हैं। हम तो चार हैं," कौशल हँस दिया।

"तू तो ऐसे बोल रहा है जैसे ख़ानदानी डकैत हो।"

"लो भई! भलमनसाहत का तो ज़माना ही नहीं रहा। अरे मैं तो तुम सबके भले के लिए ही कह रहा हूँ। इसका बिज़नेस चल जाएगा तो हम लोग भी पार्टनर बन जाएंगे।"

"वो तो ठीक है," रवि कुछ संजीदगी के साथ सोचता हुआ बोला, "लेकिन...ये काम आसान नहीं है। बड़े-बड़े हथियार, मोटर-गाड़ियाँ और पक्की प्लानिंग के बिना डाका नहीं डाला जा सकता।"

"अरे, तुम तो लगता है सचमुच का प्लान बनाने में जुट गए।"

"अब प्लान तो बनाना ही पड़ेगा अगर अपने सेठ की गुलामी से छुटकारा पाना है," रवि आज बहुत ही ख़राब मूड में है।

"अरे मोहन, इसे आइसक्रीम खिलाओ भई! लगता है इसका भेजा गर्म हो रहा है। जल्दी आइसक्रीम नहीं खिलाई तो कौन जाने ये अभी ही किसी बैंक की तरफ लपक लेगा।"

"पापा सुनेंगे तो मुझे ज़िंदा नहीं छोड़ेंगे। उन्होंने ज़िंदगीभर बैंक का नमक खाया है। कुछ और सोचो-मजाक में भी।"

"अरे, तू इसे मज़ाक समझ रहा है? वैसे सोच के देखो तो जो जितनी बड़ी कुर्सी पर है वो उतना ही बड़ा डाका डालता है। बैंक में नहीं, कहीं और सही। बस हिम्मत होनी चाहिए," कौशल गंभीर हो चला था।

"और वो हमारे जैसे ही लोग होते हैं। दो हाथ, दो पैर वाले," रवि की नज़रें सामने दौड़ती कारों पर टिकी थीं।

"चलो, मोहन कह रहा है तो बैंक में डाका नहीं डालते। कुछ और सोचते हैं। और भी तो कोई तरीक़ा होगा," सुरेश ने मूंगफली वाले को पास आने का इशारा किया।

"है क्यों नहीं? इससे कहीं आसान तरीक़ा है। बस थोड़ी-सी हिम्मत दिखाओ और लखपति बन जाओ," रवि ने कहा तो सब उसकी तरफ देखने लगे।

"एक बच्चा उठा लाओ।"

"क्या?"

"अमीर बाप का बच्चा। फिर देखो तमाशा।"

"मतलब अपहरण?"

"अब उसे नाम तुम चाहे जो भी दे लो। दो दिन बाद बच्चा उधर और बीस लाख इधर।"

"वैसे आइडिया बुरा नहीं है," थोड़ी देर बाद कौशल बोला, "पर किसका बच्चा उठाओगे? कैसे उठाओगे? ग़लत बच्चा आ गया तो?"

"ग़लत कैसे ले आएंगे? सोच-समझकर चाल चलो। हिम्मत से काम लो। एक और एक ग्यारह होते हैं। हम तो फिर चार हैं," रवि की मुट्ठी तन गई थी।

"कहो, क्या कहते हो?" कौशल ने पूछा तो मैंने नज़रें चुरा लीं। इतना पैसा हाथ में हो तो मैं बच्चों के साथ-साथ महिलाओं और पुरुषों के कपड़े भी बनवाना शुरू कर दूँ। होज़री का काम भी चालू करा दूँ। कहते हैं उसमें मुनाफ़ा ही मुनाफ़ा है। आवास विकास में एक प्लॉट लेकर डाल दूँगा। इस खटारे की जगह मारुति ले लूँगा। हे भगवान! कितना कुछ करना है।

"मैं ठहरा बाल-बच्चेदार आदमी। कहीं कुछ उल्टा-सीधा न हो जाए। पकड़े गए तो?" सुरेश हकलाया।

"डरता क्यों है प्यारे! हम हैं न तेरे साथ!" रवि ने उसकी पीठ पर एक धौल जमाया।

अब सबके दिमाग़ सही बच्चे की तलाश में दौड़ने लगे।

"धत्तेरे की! इसी को कहते हैं बगल में छोरा, शहर में ढिंढोरा," अचानक कौशल की आवाज़ सुनकर सबकी तंद्रा भंग हुई।

"अरे वो सुमित है तो! अपना मदन जिसे ट्यूशन पढ़ाता है। अरे भई मदन! अपना छुटका। सुमित को मैथ्स पढ़ाता है। सुमित...एम॰ पी॰ का लड़का...मदन को बड़ा मानता है। कांता की शादी के लिए भी उसने अपने बाप से कहकर पाँच हज़ार दिलवाए थे जिसमें से हम अभी तीन ही लौटा पाए हैं।"

"उसी का अपहरण करने को कह रहे हो तुम?"

"अपहरण ही तो कर रहे हैं। दो-चार दिन अपने पास रखकर ख़ातिर करेंगे, फिर छोड़ देंगे। जैसे ही..."

"जैसे ही उसका बाप हमें पैसे दे देगा," बात रवि ने पूरी की।

"दस-बीस लाख से उसके बाप का कुछ बनने-बिगड़ने वाला नहीं है। साल-छः महीने में इससे ज़्यादा ही बना लेगा। साला नेता आदमी है।"

"पर ऐसा भला बच्चा! तुमने अभी कहा उसने कांता के ब्याह के लिए अपने बाप से पैसे दिलवाए थे," मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

"बाप के पास थे, दे दिए। कर्ज़ा ही तो दिलवाया। जैसे ही हमारे पास कुछ जुगाड़ हो जाएगा हम ये पैसे भी लौटा देंगे। चाहो तो ब्याज़ समेत लौटा देना।"

"पर जोखिम कितना है! पकड़े गए तो?" सुरेश को शायद अपनी बीवी-बच्ची का ध्यान आ गया था।

"आए दिन तो बच्चे उठाए जाते हैं। किसी भी दिन का अख़बार उठाकर देख लो। कभी पकड़ा जाता है कोई? चार-छः दिन बाद बच्चे की लाश ही पुलिस के हाथ लगती है। हमीं पकड़े जाएंगे?"

"लाश? हम बच्चे की हत्या करेंगे?" सुरेश का चेहरा फक् पड़ गया था।

"अरे नहीं यार! हम तो बस उसे कुछ दिन के लिए छिपाकर रखेंगे। कहाँ रखेंगे–यह सोचो।"

"छोटी बुआ बाल-बच्चों समेत अगले सप्ताह बनारस जाने वाली हैं। फूफा के किसी भतीजे की शादी है। वापसी में इलाहाबाद रुकते हुए आएंगे। उनके घर रख देंगे। रात को मुझसे वहीं सोने के लिए कहा भी है फूफा ने," सुरेश को लगा होगा कि उसका योगदान पूरा हुआ।

"ठीक है।"

"अगर उसके बाप के पास रुपये न हुए?" मेरे मन में शंका उठी।

"तुम शायद भूल रहे हो कि एक एम॰ पी॰ के लिए यह कोई बड़ी रक़म नहीं है। किसी मोटे आदमी के फँसते ही वह आसानी से अपना नुकसान पूरा कर लेगा। अपने नेता लोगों की काबलियत का शायद तुम्हें अंदाज़ा नहीं है।"

"और जो उसने पुलिस को ख़बर कर दी?" सुरेश सोचकर ही घबरा गया था।

"अगर बेटे से हाथ धोना नहीं चाहता तो ऐसा वह हर्गिज़ नहीं करेगा। इतनी-सी अक़्ल तो उसके भेजे में होगी ही। वैसे हमारा इरादा एकदम नेक है। इधर पैसे हमारे हाथ आए, उधर बच्चा माँ-बाप को वापस। कोई हेराफेरी नहीं। एकदम फ़ेयर डील। मुश्किल से तीन-चार दिन का खेल है सारा, बस।"

"तीन-चार दिन की मेहनत और फिर ज़िंदगीभर की ऐश," रवि पहली बार मुस्कुराया।

लौटे तो इक्का-दुक्का लोगों को छोड़कर आसपास कोई नहीं था। भीड़ कब छँट गई पता ही नहीं चला। सन्नाटा ही सन्नाटा बाहर भी, भीतर भी। तेज़ी से दौड़ती गाड़ियों की चौंधियाती रोशनी को छोड़ दें तो अँधेरा भी। यों अभी नवंबर आधा ही बीता था पर धुंध अँधेरे पर छाने की पूरी कोशिश कर रही थी। आकाश के एक छोर पर चाँदनी के छिटकने का सा भ्रम होता था। शायद कुछ बादलों में चाँद के लिए छीना-झपटी चल रही थी। सारे रास्ते हममें से कोई कुछ नहीं बोला।

× × ×

फ़र्ज़ी नंबर प्लेट सुरेश ले आया था। कार खोने की रपट मैंने पहले ही थाने में लिखा दी थी। सुमित को कौशल दो-तीन बार दूर से दिखा

चुका था। मदन से पता चल गया था कि मंगलवार को उसका शिष्य बस से ही घर लौटता था। गाड़ी में दादी को हनुमान मंदिर जाना रहता था। बस स्टॉप से उसके घर वाले मोड़ पर गाड़ी खड़ी करके हम खड़े हो गए। स्कूल बस जैसे ही बच्चे को उतारकर आगे बढ़ी मैंने इंजन की चाबी घुमा दी। पलक झपकते ही सुमित हमारे क़ब्ज़े में था और गाड़ी मेरठ की तरफ दौड़ रही थी। अब दो-तीन फ़ोन और बस...

बस...अरे, यह इतना आसान होता है! इतना आसान! कौशल ने ठीक ही कहा था। हम नाहक ही डर रहे थे। जब तक उसके घरवाले चेतेंगे और पुलिस हरकत में आएगी हम सीमा पार कर चुके होंगे। अब कोई चिंता नहीं। अब सब ठीक हो जाएगा। भगवान को लाख-लाख धन्यवाद।

पर ये क्या?

सुरेश की बुआ को मलेरिया हो गया था और वे शादी में नहीं जा सकी थीं।

अब?

लड़का देखने में तो दुबला-पतला सा था पर उसकी उछल-कूद ने हमारी नाक में दम किया हुआ था। कुछ समय के लिए उसे शांत करना आवश्यक हो गया।

पब्लिक बूथ से एम॰ पी॰ के घर फ़ोन हो चुका था।

होश आने से पहले लड़के का बंदोबस्त करना था।

पर कहाँ?

तय यह हुआ था कि कौशल इस सारी कार्यवाही के दौरान नेपथ्य में रहेगा। सुमित उससे मिल चुका था। भले ही एक-दो बार। पर अब लगा कि उसके बिना काम नहीं चलेगा। फ़ोन पर उसे सारी स्थिति समझाई गई और नियत स्थान पर हम उसकी प्रतीक्षा करने लगे।

सुरेश की बुआ ने सारा खेल बिगाड़ दिया था। कौशल को भी नहीं सूझ रहा था कि क्या करें। विकल्प खोजने में हम इतना तल्लीन हो गए कि पता ही नहीं चला कि कब सुमित ने आँखें खोल दीं।

"भैया आप!" कौशल को देखकर सुमित के चेहरे पर आश्वस्ति की मुस्कान बिखर गई और हम सबके चेहरे फ़क़ पड़ गए।

"सत्यानाश!" कौशल सिर पकड़कर बुदबुदाया।

इसके बाद जो कुछ हुआ वह हमारी योजना में नहीं था। सुमित की ज़िंदगी का अर्थ था कौशल की मौत, हम सबकी मौत। इतना बड़ा जोखिम हम कैसे उठा सकते थे? विवश होकर हमें वह सब करना पड़ा जो हम नहीं चाहते थे। कभी-कभी इंसान हालात के आगे मजबूर हो जाता है। सुरेश ने रस्सी और बोरे का प्रबंध किया और मौक़ा देखकर हमने उसे एक नाले में फेंक दिया।

फिर एम॰ पी॰ को फ़ोन मिलाया। वह स्थान बताने के लिए जहाँ पैसा पहुँचाया जाना था। एक बार फिर उन्हें याद दिलाया गया कि यदि बेटे की जान प्यारी हो तो पुलिस से दूर ही रहें।

नियत समय पर हम दूर ओट में खड़े प्रतीक्षा करते रहे पर कोई नहीं आया।

फिर फ़ोन, फिर हिदायतें। फिर चेतावनी—"पैसा पेड़ की खोखल में छोड़ दें। घंटेभर बाद आपका बेटा घर पहुँचा दिया जाएगा। चालाकी करने की कोशिश महँगी पड़ेगी।"

रात सो गई तो दबे पाँव हम टोह लेने निकले। पर यह क्या? अनगिनत काले साए आसमान से टपके और देखते-ही-देखते हमारे हाथों में बेड़ियाँ पड़ गईं। सुमित की लाश पहले ही उनके हाथ लग चुकी थी।

अगली सुबह के सभी अख़बारों ने हमारी करतूतों का सचित्र ब्योरा देते हुए पुलिस की मुस्तैदी की प्रशंसा की थी।

कहानी यहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी पर हुई नहीं।

मदन ने पंखे से लटककर जान देने से पहले मात्र दो पंक्तियों का संदेश छोड़ा था—"भैया, आपने तो इंसानियत के नाम पर कलंक लगा दिया। भगवान आपको माफ़ करे।"

अदालत में जब हमें पेशी के लिए ले जाया गया तो डबडबाई आँखों से मेरी माँ भी कुछ ऐसा ही बुदबुदाई थीं—"भगवान तुम्हें माफ़ करे।" पता चला घर जाते ही उन्हें लकवा मार गया। कौशल के बाबूजी की कमर कर्ज़ के बोझ से पहले ही दबी थी। अब तो उनकी गर्दन भी ऊपर नहीं उठ पा रही थी।

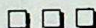
"मरे को रोऊँ कि जिंदे को?" उसकी माँ के आँसू थमने में ही नहीं आते थे।

बच्ची का गला दबाने से पहले सुरेश की पत्नी ने चूहे मारने की दवा खा ली थी।

क्या अलका रवि के जेल से छूटने तक प्रतीक्षा करेगी? कर सकेगी? क्या रवि इस योग्य रह गया था कि उसके लिए कोई प्रतीक्षा करे?

जेल की अँधेरी कोठरी में पड़े-पड़े मुझे रह-रहकर एक कहानी याद आती है जो माँ बचपन में सुनाया करती थीं–डाल पर बैठे एक गिरगिट ने देखा कि उस पेड़ की सबसे ऊँची फुनगी पर बैठी एक चिड़िया गा रही है। गिरगिट का मन हुआ कि वह भी वहीं जा पहुँचे लेकिन घनी डालियों के बीच से होकर दूर ऊपर तक चढ़ने की बात उसे पसंद नहीं आई। उसमें तो बड़ी देर लगती और बेकार की मेहनत भी। चिड़िया तो फुर्र से वहाँ पहुँच जाती है। यह सोचकर उसने भी छलाँग लगा दी और दूसरे ही क्षण वह बहुत नीचे एक अंधे कुएँ में काँटों के ढेर पर जा गिरा।

मेरे पास दीवारों के अतिरिक्त कोई भी तो नहीं है जिससे मैं पूछूँ, मेरी यह छलाँग मुझे कहाँ लिए जा रही है...कहाँ ले जाएगी।





परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के इंद्रप्रस्थ कॉलेज के अंग्रेजी विभाग में रीडर। 1991-92 में शिकागो विश्वविद्यालय में फुलब्राइट फ़ॅलो और 1993 में रॉकफॅलर फ़ाउन्डेशन स्टडी सेन्टर, बिलाजियो में विज़िटिंग स्कॉलर।

सम्प्रति अध्यापन, लेखन एवं गृहस्थी के साथ भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की त्रैमासिकी **प्रतिभा इंडिया** का सह-सम्पादन।

प्रकाशित कहानी संग्रह :

1. वही सपने, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली
2. कोई एक अधूरापन, पराग प्रकाशन, दिल्ली
3. लक्ष्मण रेखा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
4. चाँद भी अकेला है, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

अन्य प्रकाशन :

5. अमरीकी लेखिकाएं : आधुनिक कहानियाँ (सम्पादन एवं अनुवाद) किताबघर, नई दिल्ली (प्रकाशनाधीन)
6. D. H. Lawrence : The Crusader as Critic, Macmillans Delhi.
7. D. H. Lawrence : An Anthology of Recent Criticism (ed.), Ace Publications, Delhi.
8. Glimpses : The Modern Indian Short Story (ed.) East West Press, New Delhi.
9. Beyond Gender & Geography : American Women Writers—Modern Short Stories (ed.) East West Press, New Delhi.
10. Her Testimony : American Woman Writers of the 90s in conversation with Aruna Sitesh, East- West Press, New Delhi.

हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं पर समान अधिकार। अधिकांश सर्जनात्मक लेखन हिन्दी में और आलोचनात्मक अंग्रेज़ी में।